वार्षिक रु. ८० मूल्य रु. १०
विवेक ज्योति
वर्ष ५३ अंक ९ सितम्बर २०१५
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २०१५

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी प्रपत्त्यानन्द

सह-सम्पादक
स्वामी मेधजानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी स्थिरानन्द

वर्ष ५३
अंक ९

वार्षिक ८०/– **एक प्रति १०/–**

५ वर्षों के लिये – रु. ३७०/–

आजीवन (२० वर्षों के लिए) – रु. १,४००/–

(सदस्यता-शुल्क की राशि इलेक्ट्रॉनिक या साधारण मनिआर्डर से भेजें अथवा **ऐट पार** चेक – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएं

विदेशों में – वार्षिक ३० डॉलर; आजीवन ३७५ डॉलर (हवाई डाक से) २०० डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ११०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ५००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

ई-मेल : vivekjyotirkmraipur@gmail.com

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, ४०३६९५९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)
रविवार एवं अन्य अवकाश को छोड़कर

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

आवरण-पृष्ठ के सम्बन्ध में

स्वामी विवेकानन्द की यह मूर्ति कनखल, हरिद्वार स्थित रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम की है। रामकृष्ण मिशन, कनखल की स्थापना १९०१ में हुई थी। आज से लगभग १०० साल पहले हरिद्वार जैसे तीर्थ-स्थान में चिकित्सकीय सुविधा आदि का नितान्त अभाव था। तीर्थयात्री, साधु-सन्त एवं स्थानीय निवासी भी सामान्य चिकित्सा के अभाव में मृत्यु को प्राप्त हो जाते थे। अपने परिव्राजक जीवन में स्वामी विवेकानन्द यहाँ की स्थिति देखकर अत्यन्त दुखित हो गए। उन्होंने सेवाश्रम आरम्भ करने के लिए अपने एक शिष्य स्वामी कल्याणानन्द जी को हरिद्वार भेजा। स्वामी कल्याणानन्द जी ने स्वामीजी के निर्देशानुसार रोगी-नारायणों की सेवा करना आरम्भ किया। कुछ समय बाद उनकी सहायता करने के लिए स्वामी विवेकानन्द के ही एक शिष्य स्वामी निश्चयानन्द जी हरिद्वार आए। आज यहाँ १५० शय्या वाला बहुत बड़ा अस्पताल है। स्वामी विवेकानन्द के सेवादर्श को ध्यान में रखते हुए अस्पताल द्वारा निर्धन स्थानीय लोग और साधु-सन्तों की सेवा की जाती है।

सम्पादक महोदय से मुझे भी कुछ कहना है

सम्पादक जी, मार्च, २०१५ के विवेक-ज्योति के अंक में आदरणीय प्रो. वी. के. कुमावत उज्जैन द्वारा होली का आध्यात्मिक महत्त्व लेख में पूर्णमासी सहित क्रमश: सभी तिथियों में विद्यमान तत्त्वों का जो मौलिक एवं सटीक विश्लेषण किया है, उसके लिए मैं समाननीय प्रो. कुमावत जी की विद्वता लेखनी को प्रणाम करता हूँ। होली की आध्यात्मिकता पर ऐसी व्याख्या प्रथम बार पढ़ने को मिली, जिसमें तिथियों का क्रमवार महत्त्व, भक्ति का साधन प्रेम, भेदबुद्धि से परहेज, ईश्वरगुणों से परे, अन्त:करण चतुष्टय, तन्मात्राएँ विकार, सप्तधातुओं से शरीर रचना, अष्टप्रकृति नवदेहवाली देह, इन्द्रिय संयम, लक्ष्यकेन्द्रित भगवत सेवा, परोपकार दान, तीनों अवस्थाएँ, श्रीरामगीता एवं होली में तापों को जलाकर होली मनाने में ही आनन्द है। उपरोक्त व्याख्या बहुत हृदयग्राही एवं ज्ञानवर्धक है। धन्यवाद !

— कमलसिंह सोलंकी 'कमल' होशंगाबाद

महाशय, मैं विवेक ज्योति की नियमित ग्राहक हूँ। मैं आजीवन ग्राहक होने हेतु १४००/- रूपये का एक चेक भेज रही हूँ। .. यह पत्रिका वास्तव में उच्च कोटि की एक आध्यात्मिक पत्रिका है। आपको मेरा श्रद्धापूर्वक प्रणाम।

— सुश्री सुलेखा राय, अवसरप्राप्त प्राचार्य, मुजफ्फरपुर

विवेक-ज्योति के आजीवन सदस्यों की सूची

१६०१. श्री अश्वनी कुमार रात्रे, गिरौदपुरी धाम, (छ.ग.)
१६०२. श्री सीताराम सिंह, कमालपुर, वैशाली (बिहार)
१६०३. श्री प्रशान्त ताम्रकार, तमेरपारा, दुर्ग (छ.ग.)
१६०४. श्रीमती भारती एम. रामकृष्ण, कोलकाता (पं.बं.)
१६०५. मास्टर साहिल राम डाकुआ, वाशी, नवी मुम्बई
१६०६. बेबी दीक्षा सुनील भाटला, वाशी, नवी मुम्बई
१६०७. श्री एस. डी पाठक, सिद्धेश्वर कॉ., झाबुआ (म.प्र.)
१६०८. श्री आशीषकुमार बनर्जी, शंकरनगर, रायपुर, छ.ग.
१६०९. श्री पंकज कुमार मिश्रा, संतोषी नगर,रायपुर छ.ग.
१६१०. दीप टैलर्स, श्याम मार्केट, पंडरी, रायपुर (छ.ग.)

सितम्बर माह के जयन्ती और त्योहार

०५ श्रीकृष्ण जन्माष्टमी, शिक्षक दिवस
१२ स्वामी अद्वैतानन्द
१७ गणेश चतुर्थी

मधुराष्टकम्

अधरं मधुरं वदनं मधुरं नयनं मधुरं हसितं मधुरम् ।
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।१।।
वचनं मधुरं चरितं मधुरं वसनं मधुरं वलितं मधुरम् ।
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।२।।
वेणुर्मधुरो रेणुर्मधुरः पाणिर्मधुरः पादौ मधुरौ ।
नृत्यं मधुरं सख्यं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।३।।
गीतं मधुरं पीतं मधुरं भुक्तं मधुरं सुप्तं मधुरम् ।
रूपं मधुरं तिलकं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।४।।
करणं मधुरं तरणं मधुरं हरणं मधुरं स्मरणं मधुरम् ।
वमितं मधुरं शमितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।५।।
गुंजा मधुरा माला मधुरा यमुना मधुरा वीची मधुरा ।
सलिलं मधुरं कमलं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।६।।
गोपी मधुरा लीला मधुरा युक्तं मधुरं भुक्तं मधुरम् ।
दृष्टं मधुरं शिष्टं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।७।।
गोपा मधुरा गावो मधुरा यष्टिर्मधुरा सृष्टिर्मधुरा ।
दलितं मधुरं फलितं मधुरं मधुराधिपतेरखिलं मधुरम् ।।८।।

पुरखों की थाती

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।
तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां मृत्युमावहेत् ।।४६६।।

– बलवान के साथ युद्ध करना बुद्धिमत्ता नहीं है। क्योंकि मनुष्य का हाथी के साथ लड़ना, अपनी मृत्यु को बुलाना है।

बन्धुः को नाम दुष्टानां कुप्यते को न याचितः ।
को न दृप्यति वित्तेन कुकृत्ये को न पण्डितः ।।४६७।।

– दुष्ट व्यक्ति का कौन मित्र है? (कोई नहीं)। माँगने पर कौन नाराज नहीं होता? धन पाकर किसे गर्व नहीं होता? और कुकर्म में कौन कुशल नहीं होता?

बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।
रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ।।४६८।।

– 'समझदार लोगों को चाहिए कि वे बच्चे के मुख से भी निकली हुई उचित बात को ग्रहण करें, क्योंकि सूर्य के अभाव में क्या दीपक का प्रकाश काम नहीं देता?' ''

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।
आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ।।४६९

– भाई, स्त्री, सेवकगण, बुद्धि तथा आत्मबल – विपत्ति-रूपी कसौटी से ही इनकी सच्चाई का पता लग सकता है।'

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।।४७०

– जिसके पास बुद्धि है, उसी में बल भी रहता है। बुद्धिहीन के पास भला बल कहाँ होता है !

श्रीकृष्ण और गणेशजी के भजन

वृन्दावन में बसा ले मुरलिया वाले

स्वामी राजेश्वरानन्द सरस्वती, झाँसी

जीवन हो तेरे हवाले मुरलिया वाले।
अपने चरणों का दास बना ले,
वृन्दावन में बसा ले मुरलिया वाले। जीवन ..
हम कठपुतली तेरे हाथ की,
जैसे भी चाहे नचाले मुरलिया वाले।। जीवन..
मेरे अपने हुए न अब तो,
तू ही मुझे अपनाले मुरलिया वाले।। जीवन..
जन राजेश की अरज यही है,
कर गह कंठ लगा ले मुरलिया वाले।। जीवन..

गाइए गनपति जगवन्दन

तुलसीदास

गाइए गनपति जगवन्दन।
शंकरसुअन भवानीनन्दन।।१।।
सिद्धि-सदन, गज वदन विनायक।
कृपासिन्धु सुन्दर सब लायक।।२।।
मोदकप्रिय मुद - मंगल - दाता।
विद्यावारिधि, बुद्धि-विधाता।।३।।
माँगत तुलसीदास कर जोरे।
बसहिं राम सिय मानस मोरे।।४।।

जब निधुवन में कृष्ण ने बजाई बाँसुरी

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

जब निधुवन में कृष्ण ने बजाई बाँसुरी।
तब गोपियों के चित्त को चुराई बाँसुरी।।
प्रेम में पागल कभी दौड़ वे रहीं,
यमुना से कभी कह रही अनकही।
ऐसी प्रेम की गंगा बहाई बाँसुरी।।
मोहन की बाँसुरी में अमृत भरी,
दौड़ गईं गोपियाँ तनिक न डरीं।
ऐसा प्रेम का जादू चलाई बाँसुरी।।
ऋषि-मुनि सब छोड़ ध्यान लीन हो गए,
देवता भी स्वर्ग से ब्रजधाम आ गए।
कैलास में शिव-आसन हिलाई बाँसुरी।।
ग्वाल-बाल हर्षित विभोर हो गए,
पशु-पक्षी सभी निज सुधि खो दिए।
गाय-बछड़ों को प्रेम से रँभाई बाँसुरी।।
यमुना की श्याम धार शान्त हो गई,
माया की महानिशा प्रशान्त हो गई।
दिव्य महानन्द रस को लुटाई बाँसुरी।।
कण-कण निधुवन का विमुग्ध हो गया,
कृष्णमय निधुकुंज ब्रह्मानन्द हो गया।
महारास गोपी-श्याम संग रचाई बाँसुरी।।

जय गिरिजासुत गौरीनन्द

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

जय गिरिजासुत गौरीनन्दन जय-जय बुद्धि-विधाता।
जय लम्बोदर शंकर-सुअन जय जय-जय जगत्राता।।
सिद्धि प्रदाता तुम हो गणपति जो तेरी शरण में आता।
सुख-सम्पद सब वैभव पाता, चारों फल पा जाता।।
मोदकप्रिय सिन्दुर सिर सोहत कार्तिक हैं तव भ्राता।
मूस सवारी, पिता त्रिपुरारी, पार्वती हैं माता।।
जग-दुखहर्ता जन-सुखकर्ता हे मंगल के दाता।
रक्षाकर प्रभु अखिल जगत की हे सुख-शान्ति विधाता।।

स्वामी विवेकानन्द की चरित्र निर्माणकारी शिक्षा में माता-पिता और अभिभावकों का योगदान

सम्पादकीय

गौरवमयी महान भारतीय संस्कृति के देश-विदेश में उत्कृष्ट उपदेशक और संरक्षक स्वामी विवेकानन्द ने भारतीयवासियों के पुनरुत्थान के लिये सर्वोत्कृष्ट पथ का अन्वेषण किया। उसमें उन्होंने भारतवासियों में आत्मविश्वास जागृत करने हेतु सर्वप्रथम भारतीय संस्कृति की शिक्षा का समावेश किया। देशवासियों को सुसंस्कारित करने, उनके सर्वांगीण चरित्र का विकास करने हेतु चरित्र-निर्माणकारी शिक्षा का सम्पूर्ण देश में प्रचार-प्रसार किया। सुचरित्र का निर्माण सुसंस्कार से होता है। सुसंस्कार बाल्यकाल से ही अच्छी आदतों से बनता है। अच्छी आदत बनाने का अभ्यास बाल्यकाल से माता-पिता ही करते हैं। इसलिये बच्चों में स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा प्रस्तावित और अनुमोदित शिक्षा को प्रदान करने में सबसे अधिक बच्चों के माता-पिता और अभिभावकों का योगदान है। इसी विषय पर हम थोड़ी सी चर्चा करेंगे।

बच्चों को सुशिक्षित क्यों करें?

सबसे पहले हमें यह सोचना चाहिए कि क्या कारण है कि प्राचीन काल से ऋषि-मुनि, सभी सज्जन सदाचारी लोग, मनुष्य में सुसंस्कार देने की प्रेरणा देते हैं? सदाचार और नैतिकता मानवीय जीवन का मूल आधार है। इसी से व्यक्ति का सर्वांगीण विकास होता है। इसी से व्यक्ति परिवार, समाज और राष्ट्र के योग्य बनता है। इसलिये सर्वप्रथम बच्चों को केवल साक्षर और शिक्षित ही नहीं, उन्हें सुशिक्षित, सुसंस्कारित करने की आवश्यकता है।

प्राय: अत्यन्त गरीब, श्रमिक वर्ग के अभिभावक बच्चों को केवल अपनी सुख-सुविधाओं तक ही सीमित रखना चाहते हैं। इस लोभ या दैन्यदशावशात् बच्चों को अधिक शिक्षित और उदारमनोभावी नहीं होने देते। यहाँ तक कि कुछ लोग तो पढ़ने ही नहीं देते। दूसरा शिक्षित किन्तु स्वार्थी प्रवृत्ति के लोग बच्चों को अपने नाम-यश और केवल अपने परिवार के गौरववर्धन और धनार्जन तक ही सीमित रखते हैं। इसके लिये वे बच्चों में विश्वबन्धुत्व की भावना और लोक-सेवा के सुसंस्कारों से वंचित कर देते हैं। ऐसी बहुत सी सत्य घटनाओं का मैं साक्षी हूँ। अभिभावक की ऐसी स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण बच्चों में उदारता, विश्वबन्धुत्व, परोपकार, लोक-संवेदना और सद्भावना के सुसंस्कार नहीं पड़ पाते। स्वार्थी मनोभाव से पालित-पोषित बच्चा प्रारम्भ में लुभावना होने पर बाद में केवल स्वकेन्द्रित होकर समाज, राष्ट्र और माता-पिता की भी उपेक्षा कर देता है।

मैं एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगा। एक सज्जन से मैंने पूछा, आप अपने बेटे का इतना दहेज क्यों माँगते हैं, जबकि आपको भगवान ने इतनी सम्पत्ति दी है? उनका उत्तर था, 'मैंने बेटे को अधिक दहेज लेने के लिये ही इंजिनियरिंग की शिक्षा दिलायी थी। वह पूरा पैसा दहेज से ही लेना है।' इन सज्जन के शिक्षा का उद्देश्य केवल दहेज लेना था।

दूसरी घटना है। एक गाँव में गरीब बच्चों के लिये नि:शुल्क कोचिंग सेन्टर खोला गया। लेकिन पढ़ने के लिये बच्चे नहीं आते थे। शिक्षक ने मुझे अपनी समस्या बताई। मैं जाकर गाँव के लोगों से मिला। उन्हें बच्चों को पढ़ने के लिये भेजने को कहा। लोगों ने बताया कि महाराजजी ! हमारा बच्चा दिनभर मजदूरी करके शाम को हमें खिलाता है। आपके स्कूल में पढ़ने से तो हमें भोजन नहीं मिलेगा। वह बिना पढ़े ही हमें प्रतिदिन कमाकर खिला रहा है। मैंने उन्हें समझाया, केवल सुबह दो घण्टे भेजो, इससे तुम्हारा बेटा कलक्टर बनेगा। तब अधिक पैसा कमाकर तुम्हारी खूब सेवा करेगा। इतना प्रलोभन देने के बाद केवल दो घण्टे भेजने को राजी हुए। ऐसी बहुत सी घटनाएँ हैं, जो आज भी बच्चों को सुशिक्षा से रोकती हैं।

अत: हमें इन तुच्छ स्वकेन्द्रित स्वार्थी मनोभाव से ऊपर उठकर बच्चों को सुसंस्कारित और सुशिक्षित करने की आवश्यकता है।

सावधान ! बच्चे केवल आपके नहीं है, वे सम्पूर्ण विश्व की विरासत हैं

हमें सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि व्यक्ति के निर्माण में किसी एक व्यक्ति का योगदान नहीं, बल्कि समाज के सभी लोगों का योगदान है। यों कहिये कि इस

सृष्टि का कण-कण किसी व्यक्ति के सफल जीवन में सहभागी है। बड़ी सूक्ष्म चीजें छोड़ भी दें, तो जीवन-यापन की मूलभूत चीजें भोजन, वस्त्र, मकान और शिक्षा को ही लें, तो आप समझ पाएँगे कि कैसे सबकी सहभागिता है।

भोजन की वस्तुएँ किसान पैदा करता है। वस्त्र कपड़े के मीलों में श्रमिक बनाते हैं। भवन मिस्त्री और मजदूर बनाते हैं। शिक्षालयों में शिक्षा शिक्षक देते हैं। वायु, जल, पृथ्वी, आकाश, अग्नि आदि के अमूल्य योगदान के अतिरिक्त इसके शुद्ध वातावरण को बनाए रखने में प्रत्येक प्राणी का योगदान है। यदि आप ऐसा विश्लेषण करें, तो पाएँगे कि व्यक्ति के निर्माण में सबका महत्वपूर्ण योगदान है।

यदि एक बच्चे के सर्वांगीण विकास में संसार के कण-कण का योगदान है, तो वह बच्चा केवल स्वार्थी क्यों होगा? वह केवल परिवार तक ही केन्द्रित क्यों होगा? उसे तो सार्वभौमिक होना चाहिये। इसलिये मैं माता-पिता और अभिभावकों से कहता हूँ कि कम-से-कम तीन स्तर पर बच्चों को सुशिक्षित करें –

पारिवारिक स्तर पर – बच्चे आपके परिवार के गौरव और भविष्य जीवन के परम सहयोगी हैं। उनमें बचपन से प्रेम, श्रद्धा और विनम्रता और सेवा के संस्कार दें, ताकि अपने सद्व्यहार से बच्चे सबको आनन्दित कर सकें और आपके बुढ़ापे का सम्बल बनकर समाज के लिए प्रेरणास्त्रोत और कुल के गौरव को अक्षुण्ण रख सकें।

राष्ट्रीय स्तर पर – बच्चे के निर्माण में पूरे देश और वैश्विक वातावरण का योगदान है, इसलिये यह बच्चा केवल आपका नहीं, पूरे देश और विश्व का है। बच्चे राष्ट्र की सम्पत्ति, विश्व की विरासत हैं। इन्हें राष्ट्र और विश्व की सेवा के योग्य निर्माण करने का उत्तरदायित्व आपको सौंपा गया है। वैसी भावना बच्चे में बचपन से सम्प्रेषित करते रहें और उन्हें सेवा का अवसर दें।

आध्यात्मिक स्तर पर – भगवान की भक्ति करनेवाले लोगों को प्रत्येक बच्चे में अपने इष्ट भगवान को देखना चाहिए। बच्चे ईश्वर की सन्तान हैं। ये ईश्वरस्वरूप हैं। आप इष्ट मानकर बड़े प्रेम और श्रद्धा से इन्हें सत्परिवेश में ज्ञान दें, जैसे माता कौसल्या, माँ यशोदा, राजा दशरथ और नन्द जी आदि ने दिया था। बच्चों से परिस्थितियों के अनुसार उन्हें प्रेम और अनुशासित करें, किन्तु सबके मूल में कल्याण की भावना निहित हो।

स्वामी विवेकानन्द की शिक्षा

स्वामी विवेकानन्द जी ने भारत को पराधीनता की बेड़ियों से मुक्त करने, इसका विकास करने और अपनी पुनः लुप्त गौरव को प्राप्त करने में मूल कारण शिक्षा को पाया। इसलिये वे सम्पूर्ण भारतवासियों को शिक्षा देने का प्रचार-प्रसार करते हैं, उसकी योजना बनाते हैं। शिक्षा के सम्बन्ध में उनके बड़े महत्वपूर्ण विचार हैं, जिसके आधार पर कालान्तर में भारत में शिक्षा में सुधार करने का प्रयास किया गया। शिक्षा की परिभाषा देते हुए स्वामी विवेकानन्द जी कहते हैं, "शिक्षा का अर्थ है, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति, जो मनुष्य में पहले से ही विद्यमान है। ...मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णत्व का प्राकट्य ही शिक्षा है। ..."जिस संयम के द्वारा इच्छाशक्ति का प्रवाह तथा विकास वश में लाया जाता है और फलदायी होता है, उसे शिक्षा कहते हैं। ... मेरी दृष्टि में शिक्षा का सार तथ्यों का संकलन नहीं, बल्कि मन की एकाग्रता प्राप्त करना है। ...जिस शिक्षा से हम अपना जीवन-निर्माण कर सकें, मनुष्य बन सकें, चरित्र गठन कर सकें और विचारों का सामंजस्य कर सकें, वही वास्तव में शिक्षा है। ... हमें ऐसी शिक्षा चाहिये, जिससे चरित्र-निर्माण हो, मानसिक शक्ति का विकास हो और हमारे देश के युवक आत्मनिर्भर हों, अपने पैरों पर खड़ा हो सकें।

"जो शिक्षा सामान्य व्यक्ति को जीवन-संग्राम में समर्थ नहीं बना सकती, जो मनुष्य में चरित्र-बल, परोपकार की भावना और सिंह के समान साहस नहीं ला सकती, वह भी क्या कोई शिक्षा है?"

सुसंस्कारी चरित्र-निर्माणकारी शिक्षा कैसे दें?

शिक्षा में धर्म का समावेश हो

बच्चों में ऐसे सार्वभौमिक, विश्वबन्धुत्व और औदार्य का सुसंस्कार देने के लिये सत्‌शिक्षा देने की आवश्यकता है। बच्चों को सुसंस्कारित बनाने के लिये उन्हें बचपन से वैसे नैतिक और सदाचारी चरित्रवान तेजस्वी महान पुरुषों की जीवन-गाथाएँ सुनानी पड़ती हैं। अपने कई व्याख्यानों में स्वामीजी ने सर्वप्रथम अपने शाश्वत धर्म और महान संस्कृति की शिक्षा प्रदान करने का पूरे देश में उपदेश दिया। वे कहते हैं –"मैं धर्म को शिक्षा का अन्तरतम अभिन्न अंग समझता हूँ।" इसलिये शिक्षा में सनातन धर्म का समावेश होना चाहिये।

शिक्षा में धर्म क्यों?

प्रश्न उठता है कि धर्मशास्त्रों में ऐसी कौन-सी महत्वपूर्ण वस्तु है, जिसे शिक्षा का प्रमुख सोपान स्वामीजी मानते हैं। स्वामीजी ने तो यहाँ तक कहा कि धर्म भारत का मेरुदण्ड है। यदि आप थोड़ा सा विचार करें, तो सहज समझ सकेंगे।

धर्म हमें सुसंस्कार, सुसभ्य और हमारी गौरवशाली सुसंस्कृति की शिक्षा देता है। **सुसंस्कार की शिक्षा हमें अपने महान संस्कृति के वेद, उपनिषद, पुराण आदि अन्यान्य शास्त्रों से प्राप्त होती है।** तत्त्वज्ञान की शिक्षा, लौकिक और लोकातीत ज्ञान की शिक्षा हमें वेदों और उपनिषदों से मिलती है। इसलिये स्वामी विवेकानन्द वेदों को ज्ञानराशि कहते थे। रामायण और महाभारत के आदर्श जीवन-चरित हमें शौर्यशाली, वीर्यवान, शीलवान, चरित्रवान होने की शिक्षा देते हैं।

श्रीराम का मातृ-पितृ-भ्रातृ-भार्या, गुरु और प्रजा-प्रेम सबके लिये अनुकरणीय है। श्रीकृष्ण का त्यागमय जीवन ग्राह्य है। उनके चारों योगों का समन्वय व्यक्ति के जीवन के लिये समीचीन है। जीवन के सम्बन्ध में आहार-विहार, जप-तप-साधना सबके अनुकूल है –

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

उनका देववृत्ति का विकास और दानववृंत्ति के विनाश का सिद्धान्त मनुष्य के दिव्यत्व की अभिव्यक्ति में सहायक हैं। मन को विभिन्न विक्षेपों से बचाकर लक्ष्य में एकाग्र करने की सहज शिक्षा हमें भगवद्गीता से मिलती है, जो शिक्षा का आवश्यक अंग है –

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।६/१९

मानव-धर्म की शिक्षा, लोक-जीवन में करणीय-अकरणीय कार्यों की शिक्षा हमें महाभारत से मिलती है। लोभ, लालच, अधर्म, अत्याचार नही करने की शिक्षा हमें महाभारत से मिलती है। अहिंसा की शिक्षा हमें भगवान बुद्ध के जीवन से मिलती है।

सर्वधर्म की सत्यता और सर्वधर्म समन्वय तथा मानव में ईश्वरत्व की प्रेरणा हमें भगवान श्रीरामकृष्ण देव से मिलती है। शिवभाव से जीवसेवा, मानव-सेवा माधव-सेवा की प्रेरणा हमें स्वामी विवेकानन्द से मिलती है।

इसलिये हमें सर्वप्रथम अपनी महान संस्कृति का ज्ञान आवश्यक है। उसका सत्संस्कार बचपन से ही बच्चों को देना प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है।

यदि शिक्षा पहले से विद्यमान है, तो किसी दूसरे व्यक्ति की सहायता की क्या आवश्यकता है?

कई बार लोग प्रश्न पूछ देते हैं कि यदि प्रत्येक व्यक्ति में पहले से पूर्णत्व विद्यमान है, तो उसके लिये पुनः दूसरी शिक्षा लेने की क्या आवश्यकता है? हवा सब जगह है, जिससे हम जीवन-यापन करते हैं, किन्तु यदि इसका विशेष उपयोग कर गाड़ी से कहीं जाना हो, तो मिस्त्री के पास जाना पड़ता है। क्योंकि उसके पास ऐसा यन्त्र है, जिससे हमारी गाड़ी के ट्यूब में हवा भरी जा सकती है। मरते व्यक्ति को आक्सीजन देने के लिये अस्पताल ले जाना पड़ता है, तब व्यक्ति जीवित बचता है।

सर्वत्र अग्नि है, किन्तु भोजन पकाने हेतु गैस आदि जलाने के लिये लाइटर का उपयोग करना पड़ता है। सूर्य का प्रकाश सर्वत्र है, किन्तु रात्रि प्रकाश हेतु सौर ऊर्जा के उपकरणों का उपयोग करना पड़ता है। सर्वत्र पानी है, किन्तु पीने के लिये नदियों, झरनों आदि के अतिरिक्त नल और कूप आदि खोदवाना पड़ता है। संक्षेप में कुछ ऐसे स्थूल दृष्टान्त हैं, जिससे कोई भी इसे समझ सकता है। वस्तु के विशेष उपयोग हेतु विशेष तकनीकी और प्रबन्धन की आवश्यकता पड़ती है, तब वह अधिक जनोपयोगी और विशेष सार्थक होती है।

उसी प्रकार प्रकार बच्चे के ज्ञान को अभिव्यक्त करने के लिये माता-पिता-शिक्षकों और समाज द्वारा सहायता लेनी पड़ती है। समाज उस बच्चे को योग्य बनाता है, जिस योग्य पात्र में उसके पूर्णत्व की, दिव्यत्व की अभिव्यक्ति होती है और तब वह स्वयं और समाज के लिये विशेष उपयोगी होता है।

अबोध शिशु और नन्हें बच्चों को कैसे इन उत्कृष्ट संस्कारों की शिक्षा दें?

कभी-कभी व्याख्यान के प्रश्नोत्तर काल में कई अभिभावक जिज्ञासा करते हैं, महाराज ! मेरा बच्चा तो बहुत छोटा है, अभी बोलता भी नहीं है, उसे कैसे शिक्षा दें? यह कार्य कठिन प्रतीत होता है, लेकिन बहुत व्यावहारिक और महत्वपूर्ण है। भारतीय संस्कृति के अनुसार व्यक्ति के

चरित्र-निर्माण में परिवेश की बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आप छोटे बच्चों को अच्छा परिवेश देकर, उनमें सच्चरित्र-निर्माणकारी सच्चिन्तन, सद्भावनाओं की तरंगों का सम्प्रेषण कर सकते हैं।

पुराण में एक कथा आती है। मदालसा एक राज्य की महारानी थीं, जो अपने पुत्रों को बचपन से ही लोरी सुनाकर सदाचार, त्याग और वैराग्य की प्रेरणा देती थीं। वे अपने पुत्रों को बाल्यावस्था से ही सुनाती थीं, हे पुत्र ! तुम शुद्ध, ज्ञानी, निरंजन, सांसारिक मोह-माया से निर्लिप्त हो –

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसावाक्यमवेहि पुत्र ।।

इस प्रकार महारानी मदालसा के तीन पुत्र ब्रह्मनिष्ठ और एक पुत्र आदर्श गृहस्थ नृपति बने। स्वामी विवेकानन्द अपने साहित्य में इनका आदर्श माता के रूप में उल्लेख करते हैं।

कई महान पुरुषों की माताएँ अपने बच्चों को बचपन से वीरों और महान व्यक्तियों की कहानियाँ और गीत सुनाया करती थीं। कालान्तर में वे संस्कार उन बच्चों के महान चरित्र-निर्माण में सहायक हुए।

गत वर्ष बेलूड़ मठ में भक्त सम्मेलन में विख्यात् अन्वेषिका डॉ. सुश्मिता घोष अपने व्याख्यान में एक घटना सुनाती हैं – "मैं एकबार अपनी एक सखी के घर गई। वहाँ देखती हूँ कि एक वयस्क महिला एक शिशु को अपने पैर पर सुलाकर तेल लगा रही हैं और निरन्तर 'जय विवेकानन्द, जय विवेकानन्द' बोलते जा रही हैं। तब मैंने उनसे पूछा, आप तेल लगाते समय जय विवेकानन्द क्यों बोल रही हैं? उन्होंने उत्तर दिया – 'नहीं समझ रही हो? जैसे यह तेल इसके रग-रग में प्रवेश कर रहा है, वैसे ही विवेकानन्द का नाम भी इसके रग-रग में प्रवेश करा दे रही हूँ। आज वह लड़का विवेकानन्द के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी नहीं जानता।" इस प्रकार हम अबोध बच्चों में भी अच्छे संस्कार दे सकते हैं।

दूसरी सबसे महत्वपूर्ण बात है। शिक्षक कहते हैं, बच्चा मेरे पास केवल ५-६ घण्टे रहता है। १८ घण्टे तो अभिभावक के पास रहता है, इसलिये उनका कर्तव्य बच्चों के चरित्र-निर्माण में अधिक है।

अभिभावक कहते हैं, बच्चे का महत्त्वपूर्ण समय तो स्कूल में ही बीत जाता है, घर तो वह केवल खाने-विश्राम के लिए आता है। बात बिल्कुल सही है। बच्चा स्कूल, घर के अतिरिक्त समाज में रहता है, चाहे वह सड़क से जा रहा है, किसी मित्र के घर में है, किसी पार्क में है, किसी कार्यालय में है, कहीं खेल रहा है या कहीं और है। उन स्थानों पर हम लोग ही रहते हैं। अत: हम सार्वजनिक स्थानों पर ऐसा कोई भी आचरण न करें, जिससे बच्चे गलत प्रेरणा लें। जैसे कार्यालय में रिश्वत न माँगें, मादक पदार्थों का सेवन न करें, किसी से अभद्र व्यवहार और अपशब्दों का प्रयोग न करें आदि। अपितु सर्वत्र सदाचरण, सबसे विनम्र, प्रेममय और सौहार्दपूर्ण व्यवहार करें। स्वामी विवेकानन्द ने एक अध्यापक को अफीम खाते हुए पकड़ा था और उन्हें कड़ी चेतावनी दी थी। बच्चा स्कूल और घर के अतिरिक्त कई घण्टे सामूहिक विभिन्न स्थानों पर रहता है, जहाँ आप और हम होते हैं। अत: हमें सदा घर या बाहर अच्छा व्यवहार करना चाहिए।

बच्चों को आज्ञाकारी, विनम्र और श्रद्धालु बनाना चाहिये। उनमें बचपन से ही निस्वार्थ और दूसरों की सेवा करने की प्रेरणा देनी चाहिये। क्योंकि माता-पिता द्वारा घर में दिए गए आज्ञापालन और विनम्रता के संस्कार से ही लड़का स्कूल में आकर अपने शिक्षकों की बात श्रद्धापूर्वक सुनता है और शिक्षक उसे बड़े प्रेम से शिक्षा देते हैं। विनम्रता, श्रद्धा और प्रेम के समन्वित वातावरण में प्राप्त शिक्षा बच्चों में सच्चरित्रता का निर्माण करेगी। सदा यह ध्यान रहे घर में माता-पिता-अभिभावक द्वारा प्रदत्त सुसंस्कार की नींव पर शिक्षक ज्ञान और चरित्ररूपी अट्टालिका का निर्माण करते हैं।

पहले माता-पिता और अभिभावक स्वयं नि:स्वार्थी और परोपकारी बनें

बच्चों को नि:स्वार्थ, सेवाभावी और परोपकारी बनाने के लिए सबसे पहले माता-पिता और अभिभावक को वैसा होना पड़ेगा। स्वामी विवेकानन्द जी ने तो निस्वार्थता तथा परोपकार को सर्वधर्म सार कहा है। वे विभिन्न स्थानों पर कहते हैं – "जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे सबसे पहले उनके सन्तानों की सेवा करनी चाहिए। विश्व के प्राणियों की सेवा करनी चाहिये। नि:स्वार्थता ही आध्यात्मिकता

की कसौटी है। जो जितना ही निस्वार्थ है, उतना ही अधिक आध्यात्मिक है। समस्त उपासनाओं का यही सार है कि मनुष्य पवित्र रहे और परोपकार करे। अपनी पूजा के समय परमात्मा को पिता के रूप में स्वीकार करने से क्या होगा, जब हम दैनिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई न स्वीकार कर सकें?

''रत्ती भर परोपकार करने से भीतर की शक्ति जाग उठती है। रत्ती भर परोपकार सोचने से धीरे-धीरे हृदय में सिंह जैसी शक्ति आ जाती है।

''इस संसार में तुम्हें अपनी दयालुता का प्रयोग करने और पवित्र तथा पूर्ण होने का अवसर मिला, इसके लिए कृतज्ञ होओ। हमें उस मनुष्य का कृतज्ञ होना चाहिए, जिसकी हम सहायता करते हैं। हमें उसे साक्षात् नारायण मानना चहिए। मनुष्य की सहायता द्वारा ईश्वर की उपासना क्या हमारा परम सौभाग्य नहीं है?

पुण्य क्या पाप क्या?

पुण्य-पाप की अद्भुत परिभाषा स्वामीजी देते हैं – ''परोपकार ही धर्म है परपीड़न ही पाप। शक्ति और पौरुष पुण्य हैं, दुर्बलता और कायरता पाप। स्वतन्त्रता पुण्य है पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है, घृणा करना पाप। परमात्मा और अपने आप में विश्वास करना पुण्य है और सन्देह करना पाप। एकता का ध्यान पुण्य है और अनेकता पाप।''

नि:स्वार्थता और परोपकार की महिमा का ऐसा दिव्य गायन स्वामी विवेकानन्द ने किया है। हम अपने इस महान आचार्य की वाणी को अपने हृदय के अन्तरतम से स्वीकार कर, अपने जीवन को धन्य बनावें।

बचपन से ही कई संस्कारी बच्चों को मैंने देखा है, जिससे कभी आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है कि इसे यह संस्कार कहाँ से मिला? दो रोचक घटनाओं से मैं अब इस विषय का उपसंहार करूँगा।

एक बार ३-४ वर्ष पहले मैं ट्रेन से रायपुर से वाराणसी जा रहा था। मैं अपने स्थान पर बैठकर कुछ पढ़ रहा था। दूसरे कम्पार्टमेन्ट से एक सुन्दर ३ साल का बच्चा बार-बार बेसिन की ओर आता जाता था। आते-जाते समय वह इधर देखता था। १२ बजे मैं भोजन कर रहा था। वह आ गया और कुछ खाने को माँगने लगा। ट्रेन में मैं किसी को कुछ भी नहीं देता। किसी से बात भी कम करता हूँ। उस लड़के के बार-बार माँगने पर मैंने उसे थोड़ा मूँगदाल खाने को दे दिया। बच्चा हँसकर खाते हुए चला गया। मैं विश्राम करने लगा। लगभग ४ घंटे बाद उसकी माँ ने उसे बिस्कुट खाने को दिया, तो वह बच्चा मेरे पास आकर मेरे सामने ही आधा खाकर आधा मुझे खाने को देता है। मैं हँसते हुए प्रसन्नता से उसके सिर को सहलाते हुए उसे खाने को कहा। मैं सोचने लगा कि इतने छोटे बच्चे के मन में इतनी देर बाद भी यह विचार आया कि स्वामीजी ने मुझे कुछ खाने को दिया है, तो हमें भी उन्हें कुछ खाने को देना चाहिए और जब उसे अपना हिस्सा खाने को मिलता है, तब उसमें से वह सहजता से प्रसन्न होकर मुझे खाने को देता है। उस बच्चे का उस दिन का वह व्यवहार मुझे बहुत प्रेरित किया था।

दूसरी घटना अभी अप्रैल, २०१५ की है, जब मैं बिजुरी स्कूल के वार्षिकोत्सव के लिए बिलासपुर जा रहा था। मैं अपनी सीट पर बैठा हुआ था। तब तक मुझे बैठे हुए नींद आ गयी। तभी एक छोटी सी ४ वर्ष की बच्ची खिड़की पर खेलते हुये मेरी गोद में कूद गयी। मैं चौंक गया। उसने मेरा पूरा बायोडाटा लिया कि कहाँ रहते हैं, कहाँ जा रहे हैं आदि। मेरे सामने ही उसकी माँ और मामा बैठे हुए थे। सभी इसकी चुहलबाजी देख रहे हैं। फिर मैंने भी उसके स्कूल का नाम, कक्षा आदि पूछा। वह तुरन्त मेरे पास से जाकर अपनी माँ से बैग माँगकर उसमें से आलू-चीप्स का पैकेट खोलकर मुझे खाने को देने लगी। मेंने उसे बड़े स्नेह से कहा, मैं अभी खाकर ही आया हूँ, कुछ नहीं खाऊँगा। दूसरों को कुछ देने का संस्कार इस बच्ची का मुझे बहुत अच्छा लगा।

जब नन्हें बच्चों के मन में दूसरों को कुछ देने की सद्भावना है, सत्प्रेरणा है, तब बड़े क्यों न ऐसा सोचें कि हमने समाज से, राष्ट्र से कुछ लिया है, तो समाज, राष्ट्र को देना हमारा परम कर्तव्य है। अत: हम स्वयं सदाचारी, परोपकारी और नि:स्वार्थ बनें और अपने बच्चों को भी ऐसी ही शिक्षा और संस्कार दें।

शिक्षक दिवस पर मैं सबसे पहले शिक्षा के मुख्य अंग अभिभावकों से निवेदन करता हूँ कि वे विश्व की महान सम्पत्ति हमारे बच्चों में सुसंस्कार देकर समृद्धि, शान्ति और सौहार्दमय नये विश्व के निर्माण में अपने कर्तव्य को पूर्ण करें! ○○○

भगवान श्रीकृष्ण का सन्देश

आपमें से जो गीता के पाठक है, वे जानते हैं कि उस ग्रन्थ का मूल सिद्धान्त है अनासक्ति, उसकी मुख्य शिक्षा है – अनासक्त रहो। आपके हृदय के प्रेम पर केवल एक व्यक्ति का अधिकार है – केवल उसका अधिकार है, जो कभी बदलता नहीं। वह कौन है? वह केवल ईश्वर ही है। इसलिए अपना हृदय किसी परिवर्तनशील वस्तु या व्यक्ति को समर्पित मत करो, इसका अन्त दुखमय होगा। यदि तुम किसी व्यक्ति-विशेष को अपना हृदय अर्पित कर देते हो, तो उसकी मृत्यु के पश्चात सारा संसार तुम्हारे लिए दुःखपूर्ण बन जायगा। आज जिसे अपने से अभिन्न मानकर तुम हृदय समर्पित कर चुके हो, सम्भव है कल उसी से तुम्हारा वैमनस्य हो जाए। जिस पति को आपने अपना स्नेह अर्पित किया है, वह आपसे कभी झगड़ा कर सकता है। यदि उसे पत्नी को देते हो, तो कल उसकी मृत्यु हो सकती है। यही संसार की रीति है। इसलिए श्रीकृष्ण ने गीता में उपदेश दिया है – एकमात्र ईश्वर ही ऐसा है जो कभी नहीं बदलता। उसका स्नेह अनन्त और अपरिवर्तनशील है। हम कहीं भी रहें और कुछ भी करें, पर उस दयानिधि की दया में कोई अन्तर नहीं आता, उसके स्नेह की सरिता सदैव उसी प्रकार हमारे लिए प्रवाहित होती रहती है। उसमें कभी परिवर्तन नहीं होता, हमारे अधम कार्यों पर भी वह कभी क्रुद्ध नहीं होता और वह हम पर क्रुद्ध हो भी तो क्यों ? आपका नटखट बच्चा कितनी भी शरारत क्यों न करता हो, पर आप उस पर कभी नहीं बिगड़ते। हम भविष्य में क्या होने वाले है, कितने महान होने वाले हैं – यह क्या ईश्वर नहीं जानता? उसे ज्ञान है कि यथाकाल हम सब पूर्णता प्राप्त कर लेंगे। इसलिए हममें सैकड़ों दोष रहने पर भी वह विचलित नहीं होता, उसका धैर्य असीम है। अतएव हमें उससे प्रेम करना चाहिए, प्राणिमात्र से उसमें ही तथा उसके माध्यम से ही प्रेम करना चाहिए। यही गीता की शिक्षा का सार है, और इसी को अपने जीवन का मूल मन्त्र मानकर जीवन पथ पर अग्रसर होना चाहिए। अपनी पत्नी को आप अवश्य प्रेम करो, पर पत्नी के लिए नहीं। 'हे प्रिये, पत्नी को पति प्रिय लगता है, किन्तु वह पति के लिए नहीं। उसका कारण है उसमें वर्तमान अनन्त परमात्मा।'

वेदान्त दर्शन कहता है कि पति-पत्नी के स्नेह-भाव में, यद्यपि पत्नी सोचती है कि वह अपने स्वामी को प्रेम कर रही है, वस्तुत: स्नेह का विषय ईश्वर ही है, जो पति में अवस्थित है। वही एकमेव आकर्षण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई उसका स्नेहभाजन नहीं है। पत्नी अज्ञानवश नहीं जानती कि अपने पति से स्नेह करने में वह केवल ईश्वर को ही प्यार कर रही है। और यह अज्ञान ही भविष्य में उसके दुख का कारण बन जाता है। ज्ञानपूर्वक किये जाने पर यही कार्य मुक्ति का मार्ग बन जाता है। यही हमारे शास्त्रों का उपदेश है। जहाँ भी प्रेम है, आनन्द का बिन्दु भी विद्यमान है, वहीं ईश्वर विद्यमान है; क्योंकि ईश्वर रसस्वरूप है, प्रेमस्वरूप है, आनन्द-स्वरूप है। उसके अभाव में प्रेम असम्भव है।

श्रीकृष्ण के उपदेशों का यही भाव है। सारे भारत पर सारी हिन्दू जाति पर श्रीकृष्ण ने इस उपदेश की अमिट छाप छोड़ दी है। वह उनकी नस-नस में प्रवाहित हो रहा है। जब कोई हिन्दू कोई कार्य करता है, यहाँ तक कि जब वह पानी भी पीता है, तो कहता है, 'इस कार्य के सभी शुभ फल ईश्वरार्पित हैं।' कोई सत्कार्य करते समय एक बौद्ध यही संकल्प करता है कि 'इस कार्य के सारे शुभ फल संसार को प्राप्त हों और जगत के दुख व कष्ट मुझे मिलें।' हिन्दू कहता है, 'मैं आस्तिक हूँ, ईश्वरविश्वासी हूँ, और ईश्वर सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान है, सकल आत्माओं की अन्तरात्मा है। इसलिए यदि मैं अपने कार्यों का पुण्य, उनके शुभ फल ईश्वरार्पण कर दूँ, तो यह सर्वश्रेष्ठ त्याग होगा, क्योंकि अन्ततोगत्वा मेरे सत्कार्य, मेरे कार्यों के शुभ फल निश्चित ही सारे संसार को प्राप्त होंगे।'

भगवान श्रीकृष्ण के उपदेशों का यह केवल एक पहलू है। उनकी दूसरी महान् शिक्षा यह है : संसार में रहकर जो व्यक्ति कार्य करता है और अपने कार्यों के शुभाशुभ फल ईश्वरार्पित कर देता है, वह संसार के पापों से निर्लिप्त रहता है। जिस भाँति कमल जल में जन्म लेकर भी जल से निर्लिप्त रहता है, उसी भाँति ऐसा व्यक्ति सांसारिक कर्मों को करते हुए भी, उन्हें ईश्वर को समर्पित कर देने पर दोष-लिप्त नहीं होता।

प्रबल कर्मशीलता – श्रीकृष्ण की एक और महान् शिक्षा है। गीता का उपेदश है – कार्यरत रहो, रात दिन कार्य करते रहो। स्वभावत: यह शंका उपस्थित होगी कि निरन्तर कर्म से शान्ति कैसे उपलब्ध होगी? यदि मनुष्य दिन रात, आमरण, अश्व की भाँति जीवन की गाड़ी खींचता रहे, और उसे खींचते ही खींचते इहलीला समाप्त कर दे, तो मानव जीवन का मूल्य ही क्या रहा? भगवान श्री कृष्ण कहते हैं – नहीं कर्मरत व्यक्ति अवश्य शान्ति का अधिकारी बनेगा। कार्यक्षेत्र से पलायन करना शान्ति का पथ नहीं है। यदि सम्भव हो, तो अपने कर्तव्य-कर्म छोड़ दो तथा किसी पर्वत शिखर पर जीवन यापन करो; किन्तु वहाँ भी मन स्थिर नहीं रहेगा, वहाँ भी वह यन्त्रवत् भ्रमण करता रहेगा। ○○○

धर्म-जीवन का रहस्य (७/४)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९९१ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'धर्म' विषयक प्रवचन को 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक स्वर्गीय श्री राजेन्द्र तिवारी और सम्पादन 'विवेक-ज्योति' के पूर्व सम्पादक स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

आप हरिश्चन्द्र नाटक कीजिए, वहाँ तक तो ठीक है, परन्तु यदि आप बाद में भी अपने को हरिश्चन्द्र ही समझते रहें और अगले दिन कोई विश्वामित्र आपके पास पहुँच जायँ, तो कल्पना कीजिए कि आपकी क्या स्थिति होगी! हनुमानजी का संकेत यह था कि प्रभो, आप इस विश्व-रंगमंच पर नए-नए वेष बनाकर आते रहते हैं। कभी मछली के रूप में आ गए, तो कभी कछुवे के रूप में; कभी सूकर के रूप में आए, तो कभी ब्राह्मण के रूप में आए, तो कभी क्षत्रिय के रूप में। ये जो ईश्वर के विविध रूप हैं, वह उन्हीं में सीमित नहीं हो जाता। मंचित हो रहे नाटक का श्रेष्ठ पक्ष प्रदर्शित करते हुए भी उसे यह अच्छी तरह से पता है कि मैं इस समय इस नाटक में इस भूमिका में हूँ, परन्तु मैं यही तो नहीं हूँ।

वृन्दावन का एक प्रसिद्ध श्लोक है – भगवान कृष्ण कीचड़ में लिपट गए। यशोदाजी को क्रोध आया, तो उन्होंने कृष्ण से कहा – हमारे शास्त्र कहते हैं कि जब व्यक्ति का पुनर्जन्म होता है, तो भी पूर्वजन्म का अभ्यास छूटता नहीं। आज मैं बता सकती हूँ कि तुम पूर्वजन्म में क्या थे। – बता सकती हैं, तो बताइये क्या था? बोलीं – तुम पूर्वजन्म में जरूर सूकर थे –

त्वं सूकरोऽसि गतजन्मनि पूतनारे ।।

सूकर को कीचड़ बड़ा पसन्द है और तुम्हें भी कीचड़ पसन्द है, इससे लगता है कि तुम पूर्वजन्म में सूकर ही रहे होगे। सुनकर कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। बोले – 'वाह माँ, तुमने क्रोध में भी सत्य ही कह दिया। मैं सूकर भी रह चुका हूँ।' तो जो ईश्वर सूकर रह चुका हो, वह चाहे ब्राह्मण बन जाय, या अहीर बन जाय, या कुछ भी बन जाय, पशु बन जाय, पक्षी बन जाय, या आधा नर और आधा सिंह बन जाय, यह सब तो उसका अभिनय है। और अभिनय की विशेषता ही यही है कि वह वही 'हो नहीं जाता'।

यदि तुलसीदासजी ने कहा कि हमें बंशी उतनी प्यारी नहीं लग रही है, धनुष-बाण ले लीजिए, तो उन्होंने तुरन्त बंशी रख दी और धनुष-बाण ले लिया। जब बिल्वमंगल बोले – धनुष-बाण से तो डर लगता है, इसे छोड़िए और जरा बंशी ले लीजिए; तो मुस्कुराते हुए बंशी ले ली। इस सन्दर्भ में बस, इसी सूत्र पर विचार कीजिए। केवल ईश्वर के ही सन्दर्भ में ही नहीं, यदि व्यक्ति को भी सही अर्थों में अपने जीवन में कर्तव्य-कर्मों का निर्णय करना है, तो ऐसा ही करना होगा।

भगवान ने एक ही काल में दो रूपों में अवतार ले लिये। परशुराम के रूप में और भगवान राम के रूप में। हमारे ग्रन्थों में नामों के जो चुनाव हैं, वे बड़े सांकेतिक हैं। अन्य अवतारों के नाम तो अलग-अलग हैं, वहाँ कोई समस्या नहीं है। इनके नाम भी अलग-अलग होने चाहिए थे, या होते भी। परन्तु दोनों का एक ही नाम रखा गया – 'राम'। गोस्वामीजी ने तो उसे इसी तरह कहा – 'राम-राम संवाद'। यह राम-राम का संवाद है। अब इसे सन्दर्भ की दृष्टि से विचार करके देखिए। भगवान इन दोनों अवतारों के द्वारा जीवन के दो पक्षों को प्रगट करते हैं। इसके मूल में एक दार्शनिक सत्य यह है कि जब परशुराम के लिए अवतार कहा गया, तो उन्हें अंशावतार बताया गया।

अब हम जरा अपने सन्दर्भ में विचार करें। आप स्वयं कौन हैं? उत्तरकाण्ड में जीव का परिचय देते हुए कहा गया – समस्त जीव ईश्वर के ही अंश हैं –

ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।। ७/११६/२

यदि समग्र जीव ईश्वर के ही अंश हैं, तो किसी- न-किसी सीमा तक मानो हम सभी अवतार हैं। उलटा अर्थ न लीजिएगा, आगे स्पष्ट करूँगा। गोस्वामीजी ने भगवान राम को तो अवतार लिखा ही, परन्तु रामायण में एक पंक्ति और भी मिलती है। कागभुशुण्डि जी ने गरुड़ जी को कथा सुनाते हुए रावण को भी अवतार बताया –

कहेसि बहुरि रावन अवतारा ।। ७/६४/९

अवतार शब्द का सरल-सा अर्थ है – नीचे उतरना। अवतरित होना माने नीचे उतरना। यहाँ सांकेतिक सूत्र यह

है कि एक अवतरण तो वह है, जो रावण के रूप में दिखाई देता है। उस अवतरण का अर्थ है कि जैसे इस तखत से उतरते समय कोई अचानक गिर पड़े, तो भी व्यक्ति गिरकर नीचे ही गया। और एक व्यक्ति सीढ़ी से धीरे-धीरे उतरता है, तो भी नीचे उतरता है। परन्तु दोनों में अन्तर है। सीढ़ी से नीचे उतरेगा, तो किसी उद्देश्य से नीचे उतरेगा और उसे चोट नहीं लगेगी। परन्तु जब वह सीढ़ी से गिर पड़ेगा, तखत से नीचे गिरेगा, तो वही व्यक्ति घायल हो जाएगा।

यहाँ सांकेतिक तत्त्व यह है कि जय और विजय ही रावण और कुम्भकर्ण बने। यह भी लिखा हुआ है कि जय तथा विजय भगवान के पार्षद थे और बैकुण्ठ लोक में भगवान के द्वारपाल थे। अब तो इसका अर्थ और भी गहरा हो गया। पुराणों की मान्यता है कि जो कोई बैकुण्ठ में रहता है, वह ठीक भगवान के समान ही रूप-रंग वाला होता है। जैसे भगवान श्याम हैं, वैसे ही बैकुण्ठ में रहने वाला भी श्याम होता है। जैसे भगवान की चार भुजाएँ हैं, वैसे ही वहाँ रहनेवाले हर एक की चार-चार भुजाएँ होती हैं। भगवान का जो-जो रूप और जो-जो शृंगार है, वही बैकुण्ठ लोक में प्रत्येक व्यक्ति का होता है। तो जय-विजय भी ठीक उसी रूप में थे। अंश जो होता है, वह तो अपने पूर्ण का प्रतिरूप होता ही है। चाहे वह समुद्र के रूप में जल हो, चाहे नदी के रूप में जल हो और चाहे एक बूँद के रूप में जल हो, उस जल में एक साम्य तो है ही। तो भगवान मानो एक बड़े महत्त्व का सूत्र देते हैं, लोक-कल्याण के लिए मानो एक संकेत देते हैं और वह संकेत यह है कि प्रत्येक जीव मेरा ही अंश है, मेरा ही प्रतिरूप है। उसे उपनिषद कहते हैं – जीव और ब्रह्म दोनों सखा हैं। ईश्वर के अंशरूप जीव की यह दशा क्यों है? कैसे है? कैसे व्यक्ति बदल जाता है? उस प्रक्रिया में जय और विजय की गाथा बड़ी शिक्षाप्रद है। इसे आप केवल इस अर्थ में न पढ़ें कि जय और विजय नीचे गिर पड़े, क्योंकि हम सभी मानो जय और विजय के ही प्रतिरूप हैं। जय-विजय के रूप में ही, जब हमारी वृत्तियाँ इस दिशा में उन्मुख होती हैं, तो हमारा अवतरण होता है।

जय-विजय की गाथा इस प्रकार है। महात्मा सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार भगवान विष्णु का दर्शन करने के लिए बैकुण्ठ में पधारे। वे इतने उतावले थे कि सीधे चले जा रहे थे। जय और विजय द्वार पर खड़े थे। यह द्वार पर खड़े होना भी एक सांकेतिक शब्द है। हम सभी लोग कहीं-न-कहीं द्वार पर खड़े हैं। द्वार का अर्थ आप जानते हैं? एक पग आगे चलें, तो भीतर चले जायेंगे और एक पग पीछे चलें, तो बाहर। इस 'द्वार पर खड़े हुए' शब्द का अर्थ है कि यह भीतर का प्रसंग नहीं है। इसमें संकेत यह है कि हम सावधान रहें, अन्यथा हम बैकुण्ठ के द्वार पर खड़े रहकर भी नीचे गिरने को बाध्य हो जाएँगे। इस प्रसंग में यही हुआ।

उन लोगों ने जय और विजय को देखा भी नहीं। महात्मा लोग जब भीतर की ओर बढ़े, तो जय-विजय ने छड़ी लेकर उन्हें रोक दिया और कहा कि क्या तुम देखते नहीं कि हम द्वारपाल हैं? भीतर जानेवाले व्यक्ति को द्वारपाल से अनुमति लेकर भीतर जाना चाहिए। भगवान अभी वहाँ देवी लक्ष्मी के साथ एकान्त में हैं। आप लोगों ने मुझसे पूछा नहीं और बिना पूछे चले जा रहे हैं। यह आप लोगों की कैसी अशिष्टता है? ये चारों महात्मा नंगे थे। सांकेतिक भाषा है। सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार – ये निर्वस्त्र रहते हैं। बैकुण्ठ में जाने का क्या यही वेश है? क्या इस समय वहाँ ऐसे जाना उचित है? क्या हमसे पूछे बिना जाना उचित है?

कभी-कभी व्यक्ति ऊँचे सिद्धान्तों की बात तो करता है, तर्कसंगत रहता है, परन्तु उसकी वृत्ति भिन्न रहती है। ये रुष्ट क्यों हो गये? इनको यह लगा कि भगवान में और हममें आखिर अन्तर ही क्या है? हममें क्या कमी है? यदि इनको दर्शन करना है, तो मेरा ही दर्शन क्यों नहीं कर लेते? उनकी वृत्ति तो यह थी। मेरी ओर ये देख ही नहीं रहे हैं। कोई कमी है क्या? क्या हमारी चार भुजाएँ नहीं हैं? क्या हम श्याम वर्ण के नहीं हैं? क्या हम सुन्दर नहीं हैं? उनमें इस प्रकार का एक 'अहं' था। पूर्ण की तुलना में अंश की एकता ठीक भी तो है। एक बूँद और समुद्र जल के रूप में एक ही हैं, लेकिन यदि बूँद गर्व करे, तो बूँद क्षण भर में सूख जानेवाला है, परन्तु समुद्र कभी नहीं सूखता। यदि ससीम उस असीम के साथ एकाकारता का अनुभव करके ऐसा समझे, तब तो ठीक ही है। जैसा वेदान्त शास्त्र में 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूप में वर्णन किया गया, वैसे उस असीम से एकाकार होकर ऐसा अनुभव होना चाहिये, अन्यथा अंश और पूर्ण एकाकार होते ही हैं, हो ही जाते हैं।

ये ही जय और विजय जब रावण-कुम्भकर्ण बने, तब उनकी उस दिन की कलई खुल गई। उस दिन उन्होंने उन महात्माओं से यह नहीं कहा कि हम विष्णु से कोई कम हैं

क्या? परन्तु जब मन्दोदरी ने उसी रावण को उपदेश दिया कि राम विराट पुरुष हैं, राम का भजन करो, तब उसके मन की सच्ची बात निकली। बोला – मन्दोदरी, तुम्हारा भाषण तो इतना गम्भीर था कि शुरू में तो मैं समझ ही नहीं सका। वाह, तुम इतनी विदुषी हो! परन्तु मैं भी महान पण्डित हूँ। मैंने जब अर्थ में प्रवेश किया, तो पता चला कि तुम्हारा भाषण क्या था।

मन्दोदरी ने आश्चर्य से देखा – मेरा भाषण तो बड़ा सीधा-सादा था, इसमें इन्होंने कौन-सी गम्भीरता खोज ली? उसने बताया – तुमने जो कहा कि राम का भजन करो, परन्तु उसके साथ तुमने जब यह बताया कि राम विराट पुरुष हैं। पाताल उनका चरण है, आकाश उनका सिर है, तो मैं समझ गया कि तुम अयोध्यावाले राम का वर्णन नहीं कर रही हो। उसका नाप-तौल तो बड़ा सीमित है। कहाँ आकाश-पाताल! और कहाँ वह, एक क्षुद्र मानव मात्र! तब मैंने तुम्हारे भाषण के अर्थ पर विचार करके देखा – यह तुम मेरा ही वर्णन कर रही हो। मैं ही इतना विराट हूँ। पाताल भी मेरे चरणों में है, आकाश को भी मैंने वश में कर रखा है। अत: वह विराट पुरुष मैं ही हूँ। मैं ही राम हूँ –

जानेउँ प्रिया तोरि चतुराई।
एहि बिधि कहेउ मोरि प्रभुताई।। ६/१५/६

जीव का क्षुद्र अभिमान का, व्यष्टि अहंकार का समष्टि अहंकार के साथ एकाकारता का अनुभव करना अलग बात है, परन्तु व्यष्टि के रूप में रहते हुए ही ऐसी अभिमान की भाषा? यह तो उसे और भी क्षुद्र बना देगी। रावण का यही दुर्भाग्य है, उसकी यही समस्या है कि जय और विजय के रूप में उसकी जो वृत्ति थी, उसी से अभिमान की उत्पत्ति हुई, भगवान से ईर्ष्या की वृत्ति उत्पन्न हुई, तभी मानो उसका जो पतन हुआ, उसी से उसका रावण के रूप में अवतार हुआ।

यदि हम भी अभिमान और ईर्ष्या की वृत्ति से प्रेरित हैं, तो हम नीचे की ओर गिरेंगे और यह अवश्यम्भावी है। रावण ने जो कहा कि मैं राम हूँ, सारे वेदान्त शास्त्र में भी तो यही दुहराया गया है – अहं ब्रह्मास्मि। वेद के महावाक्यों में, गुरु शिष्य से कहता है – 'तत्त्वमसि' – तुम वही हो। तो इसमें और रावण की भाषा में क्या अन्तर है? रावण ने कभी उस अभिन्नता को समझने या अनुभव करने का प्रयास नहीं किया।

भगवान ने बड़ा कौतुक किया। उन्होंने अवतार लेकर आदि से अन्त तक क्या किया? भगवान राम का एक ही सूत्र है। भगवान का अवतार क्यों हुआ? तो गोस्वामीजी ने एक दोहे में लिखा – ब्राह्मण के लिए, गाय के लिए, सन्त के लिए और देवताओं के लिए भगवान ने अवतार लिया –

विप्र धेनु सुर सन्त हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गोपार।। १/१९२

जो लोग बहुत आग्रह से प्रेरित होते हैं, वे तो इस पर अपना सिर पीट लेते हैं। यहाँ भी विप्र पहले। यह क्या? ब्राह्मण के लिए अवतार लेते हैं? आप इतने उतावले न हों। रामायण का एक अन्य दोहा भी ध्यान में रखने योग्य है। जब अंगद को दूत बनाकर भेजा जाता है, तो वे भगवान राम से कहते हैं – महाराज, रावण से बातचीत करने के लिए आप कोई सूत्र दीजिए, तो भगवान बोले – ऐसा समाधान निकालना, जिससे मेरा कार्य तो हो ही, साथ ही रावण का भी हित हो –

काजु हमार तासु हित होई।। ६/१६/८

अब सोचिए, वे देवताओं के हित के लिए अवतार लेते हैं, तो साथ ही रावण के हित के लिए भी अवतार लेते हैं। उस रावण का हित, जो ब्राह्मणों को खा जाने वाला है, ब्राह्मणों का महान शत्रु है! तो किसी एक शब्द मात्र को नहीं पकड़ लेना चाहिए।

यहाँ जिस विप्र, धेनु, सुर या सन्त की बात कही गई, वे मानो लोक-कल्याण के चार प्रतिनिधि हैं। ब्राह्मण की सच्ची वृत्ति यही होनी चाहिये कि वह सारे समाज का हित चाहे। गाय तो सबका हित करने वाली है ही। वह किसी को कड़वा या किसी को मधुर दूध नहीं देती। देवताओं और सन्तों का कार्य भी यही है। यहाँ चार का नाम तो गिनने मात्र के लिए है, जैसे प्रतिनिधि चुने जाते हैं, वैसे ही दे दिया। परन्तु इसका मूल तत्त्व यह है कि भगवान समस्त प्राणियों का कल्याण हेतु अवतार लेते हैं। जब वे कहते हैं कि रावण का हित हो, इस बात का भी ध्यान रखना, वही सूत्र है। गोस्वामीजी कहते हैं – दूसरों के हित जैसा दूसरा कोई धर्म नहीं है –

पर हित सरिस धर्म नहिं भाई।। ७/४१/१

तो हित में यदि बँटवारा हो जाएगा, तब तो वह अनर्थ का हेतु बनेगा। सभी लोग अपने तथा अपने परिवार के हित में लगे हुए हैं और यह अपना हित ही दूसरे के हित से टकराहट का कारण बन रहा है। सच्चा हित तो जब भी होगा, एक अखण्ड हित होगा, जिसमें सब का हित समाहित हो। **(क्रमशः)**

सारगाछी की स्मृतियाँ (३५)

स्वामी सुहितानन्द

(स्वामी सुहितानन्द जी महाराज रामकृष्ण मठ-मिशन के महासचिव हैं। महाराजजी जगजननी श्रीमाँ सारदा के शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी महाराज के अनन्य निष्ठावान सेवक थे। उन्होंने समय-समय पर महाराज जी के साथ हुए वार्तालापों के कुछ अंश अपनी डायरी में गोपनीय ढंग से लिखकर रखा था, जो साधकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। 'उद्बोधन' बँगला मासिक पत्रिका में यह मई-२०१२ से अनवरत प्रकाशित हो रहा है। पूज्य महासचिव महाराज की अनुमति से इसका अनुवाद रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के स्वामी प्रपत्त्यानन्द और स्वामी अनुग्रहानन्द ने किया है, जिसे 'विवेक-ज्योति' में क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है। – सं.)

२२-०७-१९६०

प्रश्न — यदि मन किसी भी प्रकार से एकाग्र नहीं होना चाहता है, तो क्या उसे छोड़ दूँ या जबरदस्ती करूँ?

प्रेमेश महाराज – क्यों, मन ही मन दक्षिणेश्वर और बेलूड़ मठ में भ्रमण करने चले जाओ। बेल-तला से प्रारम्भ करो, ठाकुर-कक्ष है, वही दो खाट और मिट्टी का कलश है। मठ में गर्भगृह में घूम रहे हो, सामने ही ठाकुर हैं। भले ही ध्यान नहीं होगा, किन्तु मन सीमित-परिधि में एकाग्र हो जाएगा।

२३-७-१९६०

महाराज — 'क्षीरमम्बुमध्यात्'। स्वामी अभेदानन्द जी ने लिखा है कि ये एक प्रकार के हंस हैं। उनके मुँह में अम्ल (एसिड) रहता है। उसी से वे दूध में से सार-तत्त्व लेकर पानी फेंक देते हैं। मैंने सुबोध और अचिन्त्य को पता लगाने के लिये कहा। बहुत दिन तक चिन्तन करते-करते जान सका कि पानी में कमल-पुष्प के नाल में दूध जैसा एक प्रकार का नरम सफेद पदार्थ रहता है। हंस अपना सिर पानी में डुबोकर उस पदार्थ को खाता है। मैंने खाया। कई लोग चच्चड़ी सब्जी बनाकर खाते हैं। वही है 'क्षीरमम्बुमध्यात्'।

दूसरा है — 'गजमुक्तकपिथुवत्'। कहावत् है कि हाथी अपना सूँड से बेल को ऐसे चूस लेता है, कि केवल उसका खोपड़ा ही पड़ा रहता है। किन्तु मुझे जानकारी मिली कि 'गज' नामक एक प्रकार का कीड़ा है। वही कीड़ा बेल के भीतर होता है और बेल को अन्दर से खोखला कर देता है। तिलचट्टा घून का चिन्तन करते-करते घून हो जाता है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ऐसा नहीं है। जब मादा-घून किसी बिल में अण्डे देती है, तब एक तिलचिट्टा या वैसे ही कीड़े को मार कर वहाँ अण्डे के पास रख देती है। अण्डे से बच्चें निकल कर उसी तिलचिट्टे को खाकर बड़े होते हैं। तब तिलचिट्टा नहीं रहता है। लगता है कि तिलचट्टा ही घून हो गया। अण्डे से निकल कर बच्चे के जीवित रहने का ऐसा दूसरा दृष्टान्त भी देखा जाता है। जब केकड़े के बच्चे होते हैं, तब वे बच्चे माँ के पेट में ही रहते हैं और धीरे-धीरे माँ को ही खा-खाकर बड़े होते रहते हैं। जब माँ का खाना समाप्त हो जाता है, तब बच्चे बाहर चले आते हैं। बहरमपुर में एक साधु आये हैं। उपस्थित भक्तों में से बहुत से लोग उनकी निन्दा करने लगे।

महाराज — एक कहानी कहता हूँ, सुनो। किसी भक्त के मन में बहुत से प्रश्न उदित हुए। वह भक्त सच्चा साधु खोजते हुए भ्रमण कर रहा है। उसने सुना कि एक पहाड़ पर एक अच्छे साधु हैं। उसने वहाँ के लिए यात्रा आरम्भ की। वह मार्ग में देखता है कि उस पहाड़ पर बहुत से साधु बैठे हुए हैं। वह प्रत्येक साधु को देखता है और उनसे प्रश्न पूछता है, किन्तु उनके उत्तरों से उसे शान्ति नही मिलती है। कुछ दिन बाद एक जंगल में उसकी एक साधु से भेंट हुई। सचमुच ही वे ईश्वर-प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे थे। इसलिये एकान्त-वास हेतु जन-समूह की उपेक्षा करते थे। उनसे प्रश्न पूछते ही उसका संशय दूर हो गया। तब, उसने कहा महाराजजी, ये साधु लोग ठग हैं ! लोगों को ठग कर खा रहे हैं। उस साधु ने कहा, "नहीं, नहीं, ईश्वर ने मेरे कल्याण के लिये इन साधुओं को रखा है। यदि ये लोग नहीं रहते, तो सभी लोग आकर मुझे परेशान करते। जो लोग भगवान को नहीं चाहते हैं, ईश्वर की कोई शक्ति चाहते हैं, जैसे मुकदमा जीतना या पुत्र-प्राप्ति और नहीं तो, धन-प्राप्ति, वे लोग वैसे साधुओं के पास जाते हैं। किन्तु जो लोग वास्तव में ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं, वे ही मेरे पास आते हैं। इसलिये ये साधु हितकारी हैं। क्या कहते हो, ऐसा है न? किसी-किसी साधु के जीवन में ऐश्वर्य रहता है, किसी के चाल-चलन में मधुरता रहती है। सिलेट (वर्तमान में बांग्लादेश) में हमारा घर था। कामाख्या के मार्ग में पड़ता था। बड़े मधुर स्वभाव के एक साधु आए

थे। अधिकांश साधुओं में तो ऐश्वर्य ही देखा जाता है। एक राजा जा रहे हैं। सभी लोग कह रहे हैं कि हट जाओ, हट जाओ। पथ के दोनों ओर लोग हाथ जोड़कर खड़े हैं। वहाँ मार्ग के एक ओर एक साधु मार्ग की ओर पैर करके बैठा है। एक ने कहा, "यह पैर हटाओ, राजा आ रहे हैं।" उस साधु ने कहा, "मैं पैर क्यों हटाऊँ?" मैं तो राजा से कुछ नहीं चाहता हूँ। मैं पैर नहीं हटाऊँगा।" राज-कर्मचारी उसे पागल समझ कर चले गए। तब अँग्रेजी-शासन का प्रचण्ड प्रताप था। एक साधु पेड़ के नीचे बैठे हैं। एक पुलिस ने आकर पूछा, तु कौन है? वह साधु भी वैसा ही था ! उसने प्रति-प्रश्न किया, "मैं साधु हूँ, तू कौन है? उसने कहा, "मैं पुलिस हूँ।" ये सब साधुओं के ऐश्वर्य हैं। साधु की मधुरता देखनी है, तो ठाकुरजी की सन्तानों की गतिविधियों को देखना होगा। उनमें केवल मधुरता है, कोई ऐश्वर्य नहीं है।

२४-७-१९६०

महाराज – अच्छा स्वप्न देखना भी मन्द व्यक्ति के लिये अच्छा है। महापुरुषजी की बातें जानते हो न? Being and becoming is Religion – अच्छा होना और अच्छा बनना धर्म है।

२५-७-१९६०

प्रश्न – मैं साधु हुआ हूँ। क्यों संसार के साथ समझौता करूँगा? जो सही है, उसी मार्ग में ही तो जाऊँगा।

महाराज – तुम इस संसार का त्याग करोगे या इसका भोग करोगे? यदि देखूँ कि तुम किसी को कष्ट दे रहे हो, या प्रतिशोध ले रहे हो, तो फिर समझना होगा, कि तुम इस संसार का त्याग करना नहीं चाहते हो, इसका भोग करना चाहते हो। तुम अपने मन के अनुकूल करना चाहते हो। जो संन्यासी होगा, वह इन सबमें हँसते-हँसते उत्तेजित न होकर किसी प्रकार रास्ता निकालकर चला जाएगा, जिससे किसी से झगड़ा न हो। जो 'मैं' को स्थूल, प्रबल करना चाहता है, समझना होगा कि वह गृहस्थ बनने का इच्छुक है। जो मैं को दुर्बल करना चाहता है, समझना होगा कि वह संन्यासी है।

२६-७-१९६०

प्रश्न – साधु-जीवन में पाँच लोगों के साथ चलने में देख रहा हूँ कि बहुत समय और शक्ति नष्ट होती है, भाव भी ठीक नहीं रख पाता।

महाराज – संघबद्ध-जीवन, यह एक बहुत बड़ी बात है। जहाँ बहुत से लोगों के साथ रहते हैं, वहाँ सबको एक-साथ एक-ताल में नियमित दिनचर्या में चलना होगा। तुम लोगों ने N.C.C. में देखा है तो, यहाँ तक कि सभी लोग एक साथ कदम भी आगे बढ़ाते हैं। जो नायक, रहेगा, वह सबकी कठिनाई को देखकर, उसे समाधान करने का प्रयत्न करेगा। नायक पिता के समान प्रेम करेगा और कार्यकर्ताओं की गलतियों को सम्भाल करके चलने से ही सब कुछ अच्छी तरह से चलता है। जो नायक होता है, वह सामने नहीं रहता है। वह पीछे रहेगा।

एक ब्रह्मचारी ने एक महँगा जूता खरीदकर महाराजजी से कहा – महाराजजी, यह जूता खरीदा हूँ कि बहुत दिन चलेगा। उसके चले जाने के बाद महाराजजी ने कहा, "भीतर भोग-वासनाएँ हैं, बाहर से साधु सज कर बैठा है, अधिक रुपए देकर समान खरीदता है ! कहता है कि अधिक दिन चलेगा। संन्यासी को मृत्यु-चिन्तन करना चाहिए, इस बात को वह भूल गया है।

प्रश्न – यदि अच्छे वातावरण में रखा जाए, तो सभी अच्छे हो जाएँगे?

महाराज – नहीं, उसका प्रारब्ध उसे खींचकर बुरे परिवेश में ले जाएगा। **(क्रमशः)**

ज्ञान की प्राप्ति के लिए केवल एक ही मार्ग है और वह है 'एकाग्रता'। मन की एकाग्रता ही शिक्षा का सम्पूर्ण सार है। ज्ञानार्जन के लिए निम्नतम श्रेणी के मनुष्य से लेकर उच्चतम योगी तक को इसी एक मार्ग का अवलम्बन करना पड़ता है। रसायनविद् अपनी प्रयोगशाला में अपने मन की सारी शक्तियों को एकाग्र करके एक ही केन्द्र में स्थिर करता है और रासायनिक तत्त्वों पर लगाता है – उससे तत्त्व विश्लेषित हो जाते हैं और उसे ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। खगोलशास्त्री अपने मन की शक्तियों को एकाग्र करके एक ही केन्द्र पर लाता है और दूरदर्शी यन्त्र के द्वारा उन्हें अपने विषयों पर लगाता है; बस, तभी तारागण और ग्रहसमुदाय सामने चले आते हैं और अपना रहस्य उसके पास खोलकर रख देते हैं।

– स्वामी विवेकानन्द

साधना की अद्भुत प्रणाली – केनोपनिषद (८)

स्वामी आत्मानन्द

(स्वामी आत्मानन्दजी महाराज रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के संस्थापक सचिव थे। उनके द्वारा कलकत्ता में प्रदत्त इस प्रेरक व्याख्यान को स्वामी प्रपत्त्यानन्द द्वारा सम्पादित कर विवेक ज्योति के पाठकों हेतु प्रकाशित किया जा रहा है।)

प्रवचन - ३

देवियो और सज्जनो ! केनोपनिषद पर हम आज तीसरा चिन्तन करने जा रहे हैं। विगत दो दिनों में हमने शिष्य का प्रश्न देखा और गुरु ने उसका क्या उत्तर दिया, इस पर भी हमने विचार किया। यह भी कहा गया कि यह उपनिषद विद्या भीतर की ओर झाँकने की विद्या है। ज्ञानेन्द्रियों के सहारे हम बाहर सब कुछ जानने की चेष्टा करते हैं, किन्तु हमारा मन क्या है, जिसकी सहायता से सब कुछ जाना जाता है, इस प्रश्न पर हमारा विचार बहुधा नहीं जाता। पश्चिम देशों में भी मनोविज्ञान पर बहुत अच्छा काम किया गया है, किन्तु जितना मौलिक कार्य हमारे देश में मन पर किया गया है, वैसा और कहीं पर नहीं मिलता है। एक बात कही जा सकती है कि आधुनिक मनोविज्ञान के जन्मदाता फ्रायड जो काम कर गए हैं, उसकी तुलना भारतीय मनोविज्ञान में कहाँ है? इस प्रश्न का उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि फ्रायड ने अवश्य ही मन को समझने की चेष्टा की। वैज्ञानिक पद्धति से यदि किसी व्यक्ति ने मन के स्पन्दनों, मन की वृत्तियों के बारे में जानने की कोशिश की, तो कहा जा सकता है कि वे फ्रायड थे, किन्तु भारत में फ्रायड की अपेक्षा अधिक गहराई से मनस्तत्त्व का विश्लेषण किया गया और इसीलिए भारत के मनोविज्ञान की एक विशेषता हुई, जो पश्चिमी मनोविज्ञान के पास नहीं है और वह विशेषता है मन को पकड़ना। फ्रायड नहीं मानते थे कि मन को पकड़ा जा सकता है। वे मानते थे कि मन की तीन अवस्थाएँ हैं और मन इन तीनों अवस्थाओं में विचरण करता रहता है। इन तीन अवस्थाओं को उन्होंने चेतन, अवचेतन और अचेतन नाम दिया। इन तीनों का उन्होंने बहुत सुन्दर विश्लेषण किया। मनुष्य के जीवन में रोग दिखाई देते हैं। बहुत से रोग ऐसे हैं जिनकी चिकित्सा केवल देह की चिकित्सा से नहीं हो पाती है। फ्रायड ने पहले पहल साइकोसोमेटिक डिजीज (मनोशारीरिक रोग) कहकर हमारे सामने मन के रोगों को भी प्रदर्शित किया। साइक मन के लिये प्रयुक्त होता है, सोमा का अर्थ होता है शरीर। तो साइकोसोमेटिक डिजीज कहने का अर्थ यह है कि वह रोग जो मन में है, जिसकी जड़ मन में है, किन्तु जो शरीर में आकर के दिखाई देता है। अब चिकित्सक शरीर के रोग को दूर करने की कितनी भी चेष्टा करे, लेकिन जब तक मन की चिकित्सा नहीं होगी, जब तक रोग को जड़ से दूर नहीं किया जा सकता, तब तक शरीर स्वस्थ नहीं होगा। ऐसे बहुत से प्रकरण उस समय आने लगे। यह फ्रायड की प्रतिभा थी, जिसके बल पर उन्होंने देखा कि मनुष्य का मन रोगी है और वह रोग शरीर पर आकर के प्रतिफलित होता है। जब तक मन की चिकित्सा न हो, तब तक शरीर भी ठीक नहीं होता है, इसके जन्मदाता फ्रायड थे। इसको हम मन:चिकित्सा तत्त्व कहते हैं। इस क्षेत्र में फ्रायड का काम मौलिक था, किन्तु वे एक बात नहीं मानते थे कि मन की कोई चौथी अवस्था भी हो सकती है। यह विशिष्टता अपने यहाँ भारत में रही।

भारत में मनीषियों ने मन को देखा, मन का विश्लेषण किया और यह जानने की चेष्टा की कि मन चेतन है अथवा जड़? उन्होंने यह पाया कि अन्ततोगत्वा मन भी जड़ ही है। जैसे शरीर जड़ है, वैसे ही मन भी जड़ है। तब प्रश्न उठा कि मन में जो चैतन्य दिखाई देता है, वह क्या है? शरीर जड़ है इसका हमें बोध होता है। क्योंकि जो व्यक्ति मर गया, यदि उसके शरीर में चैतन्य होता, तो शरीर मुर्दा के समान नहीं पड़ा रहता, उसमें भी चेतना होती। किन्तु देखा जाता है कि मृत व्यक्ति के शरीर में चेतना नहीं रहती। इसलिये यहाँ पर बहुत चिन्तन किया गया कि आखिर वह मन क्या है? क्या मन भी शरीर के समान जड़ है? अन्त में यहाँ गवेषकों, अनुसंधानकर्ताओं के द्वारा पाया गया कि मन भी जड़ है। शरीर स्थूल जड़ है और मन सूक्ष्म जड़ है। यह जो मन चैतन्य सा दिखाई देता है, यह उसकी अपनी चेतनता नहीं है, बल्कि हमारे भीतर एक चैतन्यतत्त्व है, जिसे हम आत्मा या ब्रह्म कहें, उस चेतनता से, अपनी चेतनता प्राप्त करता है। वह कैसे प्राप्त करता है?

एक उदाहरण दिया जा सकता है। चन्द्रमा क्या सूर्य के समान ज्योतित है, प्रकाशवान है? हम पढ़ते हैं कि नहीं। यदि नहीं है, तो चन्द्रमा हमें प्रकाश कैसे देता है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि वह सूर्य से अपना प्रकाश प्राप्त करता है। सूर्य के परावर्तित प्रकाश से चन्द्रमा चमकता है। चन्द्रमा का अपना कोई प्रकाश नहीं है, किन्तु सूरज से प्रकाश लेकर वह हमें प्रकाश देता है और हमें ऐसा लगता है कि चन्द्रमा प्रकाशवान है। ठीक इसी प्रकार मन है तो जड़, पर वह उस चैतन्य तत्त्व से चेतनता प्राप्त करता है, इसलिए ऐसा लगता है कि मन चेतन है, पर वस्तुत: मन चेतन नहीं है।

भारत में इस पर बहुत खोज की गई और उस खोज का एक पहलू यहाँ पर केनोपनिषद में दिखाई देता है कि यह मन अपने विषयों की ओर कैसे जाता है? किसकी प्रेरणा से, जाता है और किसकी इच्छा से जाता है? चैतन्य के सम्बन्ध में जो प्रश्न किया जा रहा है, यह मौलिक प्रश्न है। आप देखेंगे कि जो शिष्य का सबसे पहला प्रश्न मन को ही लेकर आरम्भ होता है – केनेषितं पतति प्रेषितं मन: आदि। उसके पश्चात् अन्य बातें आती हैं। पहले तो यही पूछा – यह जो मन है, किसकी प्रेरणा से किसकी इच्छा से अपने विषयों की ओर जाता है? मन में इच्छा तो है, मन में कामना तो है, मन को हम कामनावान मानते हैं, किन्तु क्या मन की कामना मन के ही कारण है? क्या जड़ में कोई कामना हो सकती है? यह प्रश्न उपस्थित होता है, यदि मन जड़ है, तो उसमें कामना कैसे? इच्छा कैसे? भारतीय मनीषियों ने, मनस्तत्त्व के विद्वानों ने कहा कि मन एक यन्त्र है। जब यह यन्त्र आत्म चैतन्य के सामने रहता है, तब उसमें इच्छा, कामना इत्यादि की वृत्तियाँ स्फुरित होती हैं और जब यह यन्त्र नहीं रहता, तब आत्मा अपने आप में, अपने स्वरूप में स्थित है। मन का चेतन तत्त्व उस आत्मा के कारण है, उसका अपना नहीं है। यह भारतीय मनोविज्ञान कहता रहा।

फ्रायड की जो देन है, वह तो आप सबको मालूम है। मैंने पहले ही बताया है। फ्रायड ने मनोशारीरिक रोग की चिकित्सा-पद्धति को जन्म दिया। हमारे यहाँ भी यह जाना जाता था कि जैसे शरीर का रोग, वैसे ही मन का भी रोग है। आप पढ़ते हैं आधि-व्याधि। आधि का क्या तात्पर्य है? मानसिक रोग, मन के रोग को आधि कहते हैं। और शारीरिक रोग को व्याधि कहते हैं। मनुष्य आधि-व्याधि यानि मन के रोग और शरीर के रोग से ग्रस्त है। इन रोगों से मुक्ति हेतु यहाँ पर भी चिकित्सा की पद्धति का आविष्कार किया गया कि मन के रोगों का निवारण कैसे हो? पर जिस वैज्ञानिक पद्धति से फ्रायड ने काम किया, जैसा प्रयोगात्मक काम फ्रायड का रहा, भले ही वह वैज्ञानिक पद्धति या वैसा प्रयोगात्मक काम भारत में नहीं दिखाई देता, पर हमारे मनीषियों की विद्या जो जाँचने-परखने की रही, उस विद्या में कहीं कोई न्यूनता नहीं है बल्कि विशिष्टता रही है। फ्रायड को मन की चौथी अवस्था का कभी बोध ही नहीं हुआ। फ्रायड ने मन को जानने की चेष्टा कैसे की? रोगी मन से की। फ्रायड के पास आने वाले सभी लोग मन के रोगी थे। फ्रायड ने रोगी मन को जाँचना शुरू किया। फ्रायड का जो मन का अध्ययन था, वह रोगी मन से शुरू होता है। वे उसका वर्गीकरण करते हैं और यह देखने की चेष्टा करते हैं कि मन का रोग कैसे दूर हो सकता है? उन्होंने मन के रोग की जड़ में केवल एक ही चीज पायी और उसको उन्होंने लिबिडो कहा। मनुष्य के भीतर वासना होती है और वह वासना तरह तरह का रूप धारण करती है। यदि हम इस वासना पर अंकुश लगाते हैं, तब हमारे भीतर में प्रशमन होता है, दमन होता है। हम अपने भीतर की वासनाओं को दबाते हैं। फ्रायड ने कहा कि ये दमित वासनाएँ हमारे भीतर कुंठा का निर्माण करती हैं। हम कुंठित व्यक्तित्व हो जाते हैं। मनोग्रंथियाँ जन्म लेती हैं। इसके लिए क्या करना चाहिए? फ्रायड ने कहा कि इसके लिए मन को खुली छूट दे दो। भीतर में जो भाव उठता है, उसको दबाने की चेष्टा मत करो, नहीं तो तुम मनोग्रंथियों के शिकार होगे। किन्तु इसका कितना बड़ा दुष्परिणाम हुआ ! जब फ्रांस में फ्रायड का यह सिद्धान्त फैला, तो हम यह पढ़ते हैं कि माताओं ने अपनी सन्तानों को दूध पिलाना ही बन्द कर दिया। क्योंकि फ्रायड ने यही कहा था। मनुष्य की जितनी भी क्रिया होती है, वह इस कामेच्छा के कारण होती है। उसके भीतर जो सुप्त वासना होती है, उस वासना को वह अपनी क्रिया के माध्यम से प्रकाशित करना चाहता है। ऐसे सिद्धान्त का प्रसार हुआ। **(क्रमशः)**

साधक-जीवन कैसा हो? (८)

स्वामी सत्यरूपानन्द

सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

(ईश्वरप्राप्ति के लिये जिज्ञासु साधना में प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु प्राय: वे उन चीजों की उपेक्षा कर जाते हैं, जिन छोटी-छोटी चीजों से साधक-जीवन ईश्वर की ओर अग्रसर होता है। एक साधक का जीवन कैसा होना चाहिये और उसे अपने जीवन में किन-किन चीजों का ध्यान रखना चाहिये, इस पर विभिन्न दृष्टिकोणों से इस व्याख्यान में चर्चा की गयी है। प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने रामकृष्ण मठ, धन्तोली, नागपुर द्वारा आयोजित आध्यात्मिक शिविर में मार्च, २०११ में दिया था। विवेक-ज्योति के पाठकों हेतु इसका टेप से अनुलिखन नागपुर की सुश्री चित्रा तायडे और कुमारी मिनल जोशी ने तथा सम्पादन स्वामी प्रपत्यानन्द ने किया है। – सं.)

हमारी सामान्य प्रवृत्ति क्या है? जैसे कोई व्यक्ति मेरे सामने आया। यदि वह परिचित भी हो, तो हम सामान्य लोगों कि यह प्रवृत्ति है कि उसके सामने आते ही हम सोचते हैं कि वह मेरे विषय में क्या सोच रहा होगा ! जैसे मैं बैठा हूँ, तो शशांक को देखकर मेरे मन में विचार आता है कि वह मेरे विषय में क्या सोच रहा है? या क्या सोच रहा होगा? सामान्यत: हमारे मन में ऐसा आता है। हम उसके अभ्यस्त हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि सिवाय ईश्वर के और कोई नहीं बता सकता कि शशांक मेरे विषय में क्या सोचता है? जब तक कि शशांक स्वयं न बताए। किन्तु ऐसी हमारी प्रवृत्ति है।

ठीक वैसे ही शशीकला ताई पहुँची सूर्यकला ताई के सामने। अब दोनों एक-दूसरे के सम्बन्ध में सोच रही हैं। शशीकला ताई को लगे कि सूर्या मेरे विषय में क्या सोच रही है और सूर्या सोचती है शशि मेरे विषय में क्या सोच रही है? दोनों एक-दूसरे की सोच को नहीं जान सकतीं, किन्तु दोनों अपने विषय में जान सकती हैं। वे कल्पना कर लेती हैं कि शशी से उस दिन वहाँ उनके विवाह में भेंट हुई थी। उनके चाचा-चाची, भतीजे-भतीजी किसी के साथ भी उस दिन उसने मुझसे बात नहीं की थी। देखकर वह चुप रही। ऐसा उन्होंने सोच लिया। इसको कहते हैं पूर्वाग्रह। पूर्वाग्रह अर्थात् वस्तुस्थिति को जाने बिना ही उसके विषय में निर्णय ले लेना। यह पूर्वाग्रह हमें वस्तुस्थिति से दूर कर देता है तथा समझने नहीं देता है। अत: हमें पूर्वाग्रह से भी बचना चाहिये।

जो साधका-साधिका हैं, उनको अन्तर्यात्रा कहाँ से प्रारम्भ करनी पड़ेगी? मैं किसी के बारे में क्या सोच रहा हूँ, यदि यह जान लूँ, तो उसमें सुधार कर सकता हूँ। पर दूसरों के विषय में जो अच्छा-बुरा मैं सोच रहा हूँ, उसमें मैं कुछ भी नहीं कर सकता। इसमें समय लग सकता है, किन्तु आप अभ्यास करें। हम अपने से सम्बन्धित किसी व्यक्ति, परिस्थिति, स्थान और वस्तु के विषय में क्या सोच रहे हैं, उस पर विचार करके देखें। अपने मन पर एक दृष्टि डालें। यह अन्तर्दृष्टि न डालने से बाहर की दृष्टि प्रबल हो उठती है। वह तुरन्त हमें अपनी कल्पना के अनुसार सोच-विचार करने को प्रेरित करने लगती है।

जैसे हम बाजार जाते हैं। विशेषकर मेरी बिटिया-बहनें शॉपींग करती हैं। जैसे आपलोगों में जिसको सिगरेट, बिड़ी, गुटका, तम्बाकू की आदत है, उन्हें तलब लगती है। चाय-कॉफी की तलब सबको लगती है। बिटिया-बहनों को जरुरत न रहने पर भी शॉपिंग की तलब लगती है। इस सम्बन्ध में आपको एक घटना बताता हूँ।

पिछले साल की बात है वृन्दावन दर्शन करने के लिये भक्त लोग गये थे। उनमें कुछ महिलाएँ, बेटियाँ-बहनें भी थीं। जब वे दर्शन करने के बाद लौटकर आईं, तब मैंने पूछा वृन्दावन कैसा लगा बेटी? उन्होंने कहा – हाँ बाबा, बहुत अच्छा लगा। एक-दो मिनट बाँकेबिहारी के मन्दिर की बातें बताई और कहने लगी। अरे बाबा, क्या आपको पता है? वृन्दावन में मैंने देखा कि परवल २ रुपए किलो मिलता है ! जबकि अभी रायपुर में ६ रुपए किलो है ! मैं पूछता हूँ कि जब परवल का भाव ही जानना था, तो वृन्दावन जाने की क्या जरुरत थी। वहाँ चले जाते जहाँ परवल १ रु. किलो हो। तो ऐसी हमारी मनोवृत्ति है। हम अपने मन की ओर ध्यान ही नहीं देते। हमें विचार करना चाहिये कि हम वृन्दावन में भगवान श्रीकृष्ण तथा उनकी लीलाओं का चिन्तन करने के लिए आए हैं, आलू-परवल का भाव जानने के लिए नहीं। मेरे मन में होना यह चाहिए था कि वृन्दावन में भक्ति का भाव क्या है? क्या वृन्दावन-दर्शन के समय हमें भगवान की लीलाओं का

स्मरण हो रहा है? क्या बाँकेबिहारी का स्मरण हो रहा है? ऐसा हमें आत्मनिरीक्षण करना होगा। यह कठिन काम है, पर करना यही होगा।

जब हमलोग अपने मन में आनेवाले विचारों पर ध्यान देने लगेंगे, तब अपने मन को समझने लगेंगे, तब हमारा साधक-साधिका का जीवन शुरू हो जायेगा। आलू-परवल का भाव जानना संसार का चिन्तन है। हम यह देखें कि वृन्दावन से कौन सा भाव लेकर हम वापस आ रहे हैं? उदाहरण आपके सामने इसलिये रख रहा हूँ कि साधक-साधिका का जीवन सहज होना चाहिए। हमारा जीवन असहज है, जटिल हो गया है। हमारा मन जटिल था नहीं, जन्म-जन्मान्तर के कर्मों, संस्कारों तथा इस जन्म के कर्मों और संस्कारों ने हमारे मन को, हमारे जीवन को जटिल बना दिया है। यह जटिलता इतनी प्रबल है कि हमारा बाह्य व्यवहार भी उसके कारण जटिल हो जाता है। इसलिये साधक-साधिका को धीरे-धीरे सरलता का अभ्यास करना होगा। श्रीरामकृष्ण देव कहते हैं, बिना सरल हुए ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता या कह लें आध्यात्मिक जीवन नहीं बन सकता है।

हमारे आपके लिये सरलता का क्या तात्पर्य है? हमारे लिये सरलता का तात्पर्य यह है कि जितना सम्भव हो सके, हम निष्कपट होने का प्रयास करें। जटिलता और कपट एक सिक्के के दो पहलू हैं। जटिलता का अर्थ ही कपट है। अपने जीवन में सरलता लाने के लिये हम यदि कपट से बचते रहें, तो हमारे जीवन में सरलता आएगी।

हम कैसे कपटपूर्ण व्यवहार करते हैं, इसका एक दृष्टान्त आपको बताता हूँ। मेरे कुर्ते में बहुत से पॉकेट हैं। दो पॉकेट बाहर रहते हैं, जो दोनों सामने दिख रहे हैं, दो भीतर हैं और दो बाजु में हैं। हमारा मन कैसे व्यवहार कराता है, इसे थोड़ा देखिए? मान लीजिये किसी ने बाबा को खाने के लिये काजू दिया। अच्छा बेटा, बहुत अच्छा है, तुम सुखी रहो। उस काजू को हमने पॉकेट में डाल दिया। वह प्लास्टिक की थैली में बन्द था। हमने भीतर हाथ डालकर धीरे से उसको खोल दिया। अब रास्ते में पैदल जा रहे हैं। तभी हमारे मित्र पाठक जी मिल गये। मैंने पूछा, पाठकजी, यहाँ कहीं चना मिलता है क्या? उन्होंने कहा, हाँ महाराज मिलता है। चलिये इधर से गली में दुकान है। वहाँ जाकर हमने चना खरीद लिया और उसे भी पॉकेट में रख दिया। अब रास्ते में चल रहे हैं और चलते-चलते धीरे-धीरे अपने एक-एक काजू खा रहे हैं। यदि कोई मित्र मिल गया, तो वह देख लिया कि ये तो स्वयं कुछ खा रहे हैं और हमें पूछ भी नहीं रहे हैं। तो हमने उसे चना खाने को दिया और अपने काजू खा रहा हूँ। मैं अपनी बात बता रहा हूँ। मैं आप लोगों की बात नहीं जानता। अब आप ही सोचिए कि मैं कितना सरल व्यक्ति हूँ। मेरे जैसे भक्तों की ऐसी सरलता से थोड़ा सावधान रहें। थोड़ा सहज रहें। यदि काजू खाना है, तो तुम खाओ, लेकिन थोड़ा दो दाना अपने मित्र को भी दे दो। इसमें तुम्हारा क्या जाता है? किसी ने तुमको दिया है, तुम पाँच दाना खाओ और उसमें से दो दाना दूसरे को भी दे दो। उससे तुम कपट से बच जाओगे।

घर में, परिवार में, यहाँ तक कि परस्पर दाम्पत्य जीवन में भी हम कपटाचरण करते हैं। इस कपट से आध्यात्मिक जीवन में कभी उन्नति नहीं हो सकती। यह कपट कोई वस्तु नहीं है, जिसे आप हाथ में रखकर दिखा सकें। यह एक मनोभाव है। यदि जीवन में कपट आ गया, तो हम आध्यात्मिकता से गिर जाएँगे। इसलिये हमें कपटरहित होने का प्रयत्न करना चाहिए। ये सब धीरे-धीरे चलने वाली प्रक्रियाएँ हैं।

हम को यह कैसे मालूम होगा? जब तक हम आत्मनिरीक्षण का प्रयत्न नहीं करेंगे, अभ्यास नहीं करेंगे, तब तक हमें यह मालूम नहीं होगा कि हमारे मन में कपट है, क्रोध है, छल करने की इच्छा है। विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ हमारे भीतर हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान नहीं जाता है। मन की एक बड़ी विशेषता है और सुविधा भी है कि हम मन की जिस प्रवृत्ति को लेते हैं, उससे परिचित हो जाते हैं, तो वह प्रवृत्ति हमसे दुर्बल हो जाती है। बिना देखे वह प्रवृत्ति हमसे प्रबल रहती है। मन की जिस वृत्ति को मैंने जब तक देखा नहीं है, तब तक वह मुझसे अधिक शक्तिशाली है। जैसे काजू खाने का लोभ, चना देने का कपट, इन दोनों वृत्तियों में मैंने लोभ और छल को बलवान बनाया। यदि इसे मैं पहले जान लेता, इसे पहचान लेता, तो उसकी शक्ति कम हो जाती और ये लोभ, छल-कपट मुझे वशीभूत नहीं कर पाते। **(क्रमशः)**
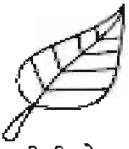
स्वामी विवेकानन्द की कथाएँ और दृष्टान्त

(स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों में दृष्टान्त आदि के रूप में बहुत-सी कहानियों तथा दृष्टान्तों का वर्णन किया है, जो १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' तथा अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुए हैं। उन्हीं का हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रकाशित किया जा रहा है, जिसका संकलन स्वामी विदेहात्मानन्द जी ने किया है। – सं.)

६१. विश्व-बन्धुत्व का सच्चा अर्थ

हम सभी विश्वबन्धुत्व की बात सुनते हैं और यह भी जानते हैं कि विभिन्न समाजों में उसका प्रचार करने के लिए कितना उत्साह दिखाया जाता है। इस सन्दर्भ में मुझे एक पुरानी कहानी याद आती है।

भारतवर्ष में शराब पीना बहुत बुरा माना जाता है। दो भाई थे। एक रात उन दोनों ने छिपकर शराब पीने का विचार किया। बगल के कमरे में उनके चाचा सो रहे थे, जो कि एक बड़े ही सदाचारी व्यक्ति थे।

इसीलिए शराब पीना शुरू करने के पहले दोनों ने मिलकर निर्णय लिया, "हम लोगों को जरा भी आवाज नहीं करनी है, नहीं तो चाचाजी जाग जाएँगे।"

वे लोग शराब पीते हुए बार-बार कहते जा रहे थे, "चुप, रहो, नहीं तो चाचाजी जाग जाएँगे।" इस प्रकार वे एक दूसरे को चुप कराते रहे। धीरे-धीरे जब उनकी आवाज बढ़ी, तो चाचाजी की नींद खुल गयी। वे उस कमरे में आये और उन्होंने सब कुछ देख लिया।

हम लोग भी ठीक इन मतवालों की तरह ही 'विश्व-बन्धुत्व' कह-कहकर शोर मचाते रहते हैं। कहते हैं, "हम सभी समान हैं, इसलिए हमें एक सम्प्रदाय के रूप में संगठित हो जाना चाहिए!" परन्तु ज्योंही तुमने सम्प्रदाय का गठन किया, त्योंही तुम समता के विरोधी हो जाते हो; और तुम्हारे लिये समता का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। मुसलमान लोग सार्वभौमिक भाईचारे की बातें करते हैं, परन्तु वास्तव में इसका परिणाम क्या निकलता है? क्या कारण है कि जो मुसलमान नहीं हैं, वह इस भाईचारे में शामिल नहीं हो सकता? बल्कि उसका गला काटे जाने की ही अधिक सम्भावना है। ईसाई भी विश्व-बन्धुत्व की बातें करते हैं; परन्तु जो ईसाई नहीं हैं, उसे निश्चित रूप से एक ऐसे स्थान में जाना होगा, जहाँ उसे अनन्त काल तक आग में झुलसाया जाएगा। (३/१४३-४४)

६२. भगवान का सर्वाधिक प्रिय कौन है

एक धनी व्यक्ति का एक बगीचा था, जिसमें दो माली काम करते थे। एक माली बड़ा आलसी और कामचोर था, परन्तु जब कभी मालिक बगीचे में आता, तो वह झट से उठकर खड़ा हो जाता और हाथ जोड़कर कहता, "मेरे मालिक का मुख कितना सुन्दर है!" इतना कहकर वह उसके सामने नाचने लगता।

दूसरा माली ज्यादा बातचीत नहीं करता था, बल्कि वह तो कठोर परिश्रम करता और बगीचे में तरह-तरह के फल तथा शाक-सब्जियाँ पैदा करके उन्हें अपने सिर पर रखकर बहुत दूर स्थित मालिक के घर पहुँचा आता।

इन दो मालियों में से मालिक किसको अधिक चाहेगा? ठीक इसी प्रकार यह पूरा संसार एक बगीचा है और भगवान शिव इसके मालिक हैं। इसमें भी दो तरह के माली हैं – एक तो आलसी, ढोंगी और अकर्मण्य है, जो बीच-बीच में शिवजी के सुन्दर नेत्रों, नासिका तथा अन्य अंगों की प्रशंसा करते रहते हैं। जबकि दूसरे प्रकार का माली शिव की सन्तानों – दीन-दु:खी लोगों, सभी प्राणियों और उनके पूरे संसार की देखभाल करता रहता है।

इन दो तरह के लोगों में से शिव को कौन अधिक प्यारा होगा? निश्चय ही, वही जो उनकी सन्तानों की सेवा करता है। जो व्यक्ति एक पिता की सेवा करना चाहता है, उसे सबसे पहले उसके बच्चों की सेवा करनी चाहिए। इसी प्रकार जो शिव की सेवा करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम उनकी सन्तानों अर्थात् संसार के सभी प्राणियों की सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों में कहा गया है कि जो भगवान के दासों की सेवा करता है, वही उनका महानतम सेवक है। अत: यह बात सर्वदा ध्यान में रखनी चाहिए। (५/३९)

६३. विदेशी भावों का अन्धानुकरण

एक कम बुद्धिवाला लड़का श्रीरामकृष्ण के सामने सदा शास्त्रों की निन्दा किया करता था। एक दिन उसने गीता की बड़ी प्रशंसा की। इस पर श्रीरामकृष्ण बोले, "अवश्य ही किसी विदेशी विद्वान ने गीता की प्रशंसा की होगी, इसीलिए यह भी उसी की नकल कर रहा है।" (९/२२६)

भारत को अन्य देशों से शीघ्र आगे बढ़ने के लिये भारतीय वातावरण में शिक्षा एवं उच्च शिक्षा का स्वरूप

डॉ. एस. के. सिंह

पूर्व-कुलपति, मैट्स विश्वविद्यालय और प्रोफेसर, सांख्यिकी विभाग, पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

किसी भी शासन व्यवस्था के तीन अंग हैं – १. गरीबी का उन्मूलन २. प्रत्येक नागरिक को रोटी, कपड़ा और मकान ३. रोग का उन्मूलन। दूसरे शब्दों में कहें, तो भोजन, वस्त्र, भवन और स्वास्थ्य। इसके साथ ही जन-साधारण की शिक्षा के विविध आयाम। यह व्यवस्था हमें राम-राज्य में मिलती है, जहाँ कोई दीन, दुखी, दरिद्र, अज्ञानी नहीं था। गोस्वामी तुलासीदास जी द्वारा प्रणीत रामचरितमानस की यह अर्धाली राम-राज्य की व्यवस्था का पूर्ण रूप से व्याख्या करती है –

नहीं दरिद्र कोउ दुखी न दीना।

नहीं कोऊ अबुध न लच्छन हीना।

उपरोक्त अर्धाली का अर्थ इस रूप में लिया जा सकता है कि राम-राज्य व्यवस्था में कोई दरिद्र नहीं था, कोई भी दुखी नहीं था और कोई भी दीन नहीं था। क्यों नहीं था? क्योंकि अबुध नहीं था, अशिक्षित नहीं था। जब कोई भी व्यक्ति अबुध एवं लच्छन हीन नहीं होगा, तब यह आदर्श स्थिति प्राप्त होगी।

किसी भी व्यक्ति के शिक्षित होने का अर्थ है – १. उसे अपने नियत कर्म का बोध हो और उससे सम्बन्धित विद्या का ज्ञान हो। २. शरीर-विज्ञान की जानकारी हो। ३. उच्च विचारों से सम्पन्न हो। ४. मौलिक तत्त्व-बोध हो।

लच्छन हीन से तात्पर्य है कि प्रत्येक व्यक्ति –

१. अपने नियतकर्म में निपुण हो अर्थात् अपने नियतकर्म को, निर्धारित कर्तव्य-कर्म को कुशलता से करे। २. सत्यनिष्ठा का धनी हो, आत्मविश्वासी हो, आन्तरिक एवं बाह्यशान्ति से सम्पन्न हो। ३. चरित्रवान हो अर्थात् उसके आचार, विचार और व्यवहार स्वयं और सबके लिये हितकारी हो।

आज हमें अगर अभिनव एवं सशक्त भारत की रचना करनी है, तो हमें एक योजना बनाकर पूरे भारत में इसे कार्यान्वित करना होगा। इसे एक देशव्यापी अभियान के रूप में पूरे भारत में कार्यान्वित करना होगा, इसे कार्यान्वित करने हेतु बुद्धि-विलास से ऊपर उठना होगा।

राष्ट्र-निर्माण का त्वरित एवं सबसे छोटा रास्ता शिक्षा से होकर जाता है। हमारे देश की जनसंख्या १२१ करोड़ है। इसमें से कितने प्रतिशत शिक्षित और कितने प्रतिशत उच्चशिक्षित हैं, यह प्रश्न विचारणीय हैं कि शिक्षित व्यक्ति की शिक्षा गुणवत्ता उन्मुखी (Quality Oriented) है या नहीं? हम जानते हैं कि खेत में पैदावार के लिए बीज, खाद एवं पानी की जरूरत होती है। यदि उपरोक्त वस्तुएँ अच्छी नहीं हैं, तो पैदावार का अच्छा होना कठिन है। किन्तु खेत के उपजाऊँ होने पर भी यदि फसल अच्छी नहीं होती है, तो दोषी कौन है? इसका प्रभाव किसके ऊपर पड़ेगा? सीधा उत्तर है व्यक्ति एवं राष्ट्र पर पड़ेगा।

तब तो यह प्रश्न विचारणीय हो जाता है कि अगर अपने नवयुवकों को अच्छी शिक्षा नहीं प्राप्त होती है, तो दोषी कौन है। अगर अपने नवयुवकों में दोष है, तो उन्हें सुधारने के अलग तरीके हो सकते हैं, लेकिन अगर शासकीय नीति में गलती हो रही है, तो हमें विचार करना होगा। क्योंकि जैसे निरोगी काया एक व्यक्तित्व का पहला चरण है, वैसे ही स्वस्थ शिक्षा एक सशक्त राष्ट्र का मूलमन्त्र है।

भारत एक ग्राम प्रधान देश है। इसके १२१ करोड़ जनता में से लगभग ७५ प्रतिशत लोग गाँवों में रहते हैं। गाँवों में शिक्षा का स्तर चिन्तनीय है। भारत को अपने प्रत्येक गाँव को सड़क, पानी और विद्युत से जोड़ने को प्राथमिकता देनी है। लेकिन सभी राष्ट्रों के बीच अपने को सबसे सशक्त बनाने के लिये शिक्षा को सबसे पहले प्राथमिकता देनी होगी। यदि हम सोचें कि सब कुछ विकास कर लेने के बाद हम शिक्षा-विकास के अभियान को प्राथमिकता देंगे, तो यह हमारी भूल होगी, हम बहुत पीछे चले जाएँगे।

हमारी उच्च शिक्षा अधिकांश शहरों तक ही सिमटी हुई है। उसमें भी उन्हीं तक ही सिमटी हुई है, जो उसे प्राप्त करने में आर्थिक रूप से सम्पन्न हैं। इस मिथक को

तोड़ना होगा। आज की शिक्षा का अधिकांशत: उत्पादन राष्ट्र-उत्थान में सहायक नहीं है। यह केवल डिग्री बाँट रही है जिसके बल पर चपरासी, क्लर्क या छोटी-मोटी नौकरी प्राप्त की जा सकती है।

राष्ट्र के नवयुवकों की जनसंख्या का एक बड़ा भाग, चाहे वह छात्र हो या छात्रा गुणवत्ता उन्मुखी शिक्षा चाहता है। लेकिन इस शिक्षा हेतु न तो सुविधा है और न ही शिक्षक। लेकिन अच्छी बुद्धि के नवयुवकों को अच्छी शिक्षा से वंचित करना देश को पीछे की ओर धकेलना है। अत: इस पर हमें गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

भारतीय संस्कृति में छात्राएँ शक्ति-स्वरूपा हैं, किन्तु इनकी शिक्षा और भी सोचनीय है। छात्राएँ सुरक्षा-सुविधाओं की कमी के कारण अच्छी शिक्षा से वंचित हैं। अगर गाँव में विद्यालय नहीं हैं, तो सुरक्षा के कारण दूसरे गाँव में पढ़ने नहीं जा सकतीं। अगर १२१ करोड़ जनसंख्या के उस भाग पर विचार करें, जो गाँवों में निवास करती है, तो स्थिति बड़ी भयावह दिखायी देती है। अत: हम सोच सकते हैं कि अगर विद्यालयीन शिक्षा की स्थिति ही खराब है, तो महाविद्यालयीन शिक्षा की स्थिति गाँव में कैसी होगी।

शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार और उनकी मूलभूत आवश्यकताएँ

आजकल दूरस्थ शिक्षा के द्वारा उच्च शिक्षा की व्यवस्था की जा रही है। लेकिन इसके द्वारा अच्छी शिक्षा की व्यवस्था नहीं हो पाई है। दूरस्थ शिक्षा के द्वारा केवल डिग्री जुटाई जा रही है। यहाँ गुणवत्ता उन्मुखी शिक्षा की व्यवस्था का पूर्णतया अभाव है। अत: आज एक ऐसी शिक्षा – विद्यालय या महाविद्यालय की जरूरत है, जो नवयुवकों को न केवल उनकी योग्यता के अनुसार शिक्षित करे, बल्कि रोजगारपरक अच्छी शिक्षा में दक्ष कर उन्हें स्वावलम्बी बना सकें। इसके लिये हमें ऐसे विद्यालय-महाविद्यालय खोलने होंगे और उन्हें अच्छी शिक्षा-सुविधा से परिपूर्ण करना होगा। एक अच्छे विद्यालय या महाविद्यालय का होना निम्नलिखित बातों पर निर्भर करता है – १. विद्यालय, महाविद्यालय का अपना अच्छा भवन हो। २. प्रयोगशाला की सम्पूर्ण व्यवस्था हो। ३. शिक्षकों के वेतनमान के देख-रेख की सरकार द्वारा कड़ी व्यवस्था हो। ४. शिक्षकों, छात्र-छात्राओं और विद्यालय या महाविद्यालय के अधिकारियों में कड़ा अनुशासन हो।

उपरोक्त सुविधाओं के बिना समीचीन शिक्षा नहीं मिल सकती। वह शिक्षा के नाम पर एक तरह से समय, शक्ति और धन का शोषण ही होगा। शोषित शिक्षक से अच्छी शिक्षा की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। निचले स्तर पर ही अगर अच्छी शिक्षा की व्यवस्था नहीं है, तो ऊँचे स्तर पर इसके बारे में सोचना सम्भव नहीं है। अगर आज की शिक्षा की ओर दृष्टि डाली जाय, तो यह दृष्टिगोचर होता है कि विद्यालय, महाविद्यालय या प्राइवेट विश्वविद्यालयों में मानक के अनुसार शिक्षकों को वेतन नहीं दिया जा रहा है। अत: एक शोषित शिक्षक से एक अच्छी शिक्षा दिलवाना सम्भव नहीं है।

उच्च शिक्षा में छात्र-छात्राएँ विद्यालय से ही आते हैं एवं उच्च शिक्षा के द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में देश की सेवा में जाते हैं। अत: नींव के कमजोर होने पर हम मजबूत भवन की कल्पना कैसे कर सकते हैं?

अब समय आ गया है कि हम शिक्षा के इन मौलिक आवश्यकताओं और आयामों पर विचार करें और युद्ध स्तर पर शिक्षा के क्षेत्र में काम करें। केवल शहरों तक नहीं, बल्कि इसका विस्तार गाँवों तक करें। विद्यालयों की व्यवस्था (छात्र-छात्राओं के लिए) हरेक गाँव में करें और कई गाँवों के बीच में (जनसंख्या को ध्यान में रखते हुए) एक महाविद्यालय की स्थापना की जाय। इसके साथ ही वहाँ छात्रावास और यातायात की सुविधा भी होनी चाहिए।

विद्यार्थियों को आधुनिक प्रणाली से शिक्षा-सुविधा की व्यवस्था

आज का युग इलेक्ट्रॉनिक्स का युग है। Digital India से सभी गाँवों के विद्यालयों को जोड़कर विडियो कान्फ्रेसिंग के द्वारा अच्छे शिक्षकों से गुणात्मक शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है। आज आवश्यकता है प्रत्येक छात्र-छात्रा को लैपटाप से लैस करने की तथा प्रत्येक कक्षा के लिये Digital पाठ्यक्रम बनाने की। इसके लिए दूरस्थ शिक्षा की तरह केन्द्रीय स्तर पर विद्यालयों एवं महाविद्यालयों हेतु एक-एक Digital संस्था बनाने की जरूरत है। ये संस्था सभी छात्र-छात्राओं के लिये पाठ्यक्रम सामग्री, प्रश्न बैंक इत्यादि की व्यवस्था कर छात्र-छात्राओं में पाठ्यक्रम के महत्व को अधिक स्पष्ट कर सकते हैं, जिससे उन्हें सम्बन्धित परीक्षा में अच्छे अंक लाने में सहायता मिल सकती है।

मैकाले की पराधीनतापरक शिक्षा हटाकर

भारतीय गुरुकुल पद्धति से शिक्षा का प्रयोजन

मैकाले ने भारतीय प्राचीन शिक्षा के बारे में पूर्व में अपने देश में रिर्पोट दी थी कि इस देश की शिक्षा बहुत सशसक्त है। यहाँ की शिक्षा-प्रणाली में, शिक्षा और विद्या का समिश्रण है, जिसके कारण भारतीय संस्कृति बहुत गहराई तक मजबूत है और ऐसे देश को पराधीन बनाना बहुत कठिन है। ऐसे देश को परतन्त्र बनाने के लिए इसकी संस्कृति को नष्ट करना होगा। शिक्षा एवं विद्या का सम्मिश्रण केवल हमारे देश की पूर्व शिक्षा-प्रणाली में था। ऐसा किसी देश में देखने को नहीं मिलता। प्राचीन शिक्षा अध्यात्म से सम्बन्धित थी एवं शिक्षा का अर्थ विभिन्न विषयों जैसे गणित, भौतिक, रसायन इत्यादि की शिक्षा से था और इससे सम्बन्धित संस्था गुरुकुल कहलाती थी। हमारे देश को पराधीन बनाने के लिये सर्वप्रथम अंग्रेजों ने हमारी गुरुकुल व्यवस्था को नष्ट कर केवल क्लर्क आदि बनानें की शिक्षा का प्रवर्तन किया। अत: हमें पुन: स्वतन्त्र भारत में शिक्षा एवं विद्या की संस्था को बढ़ाना चाहिए।

प्राप्त डिग्री का समाज में महत्त्व भी हो

१९वीं शताब्दी बाजार आधारित शिक्षा यानी व्यावसायिक शिक्षा को बढ़ावा देती है। शिक्षा तो आप प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन बाजार में यदि उसका महत्व है, तो ठीक है, अन्यथा व्यर्थ है। आज व्यवसायिक शैक्षणिक संस्थान बहुत से खुल गए हैं, लेकिन उनसे प्राप्त डिग्री का बाजार में कोई मूल्य नहीं है। अत: विचारणीय है कि यदि हमारे नवयुवकों में योग्यता है, लेकिन गलत शिक्षण संस्था से शिक्षा मिलने के कारण अगर उनका भविष्य नष्ट हो रहा है, तो दोषी कौन है?

अध्यात्म और विज्ञान की शिक्षा आवश्यक

हमारे प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार ''हमें केवल अपने राष्ट्र की अखण्डता ही सुरक्षित नहीं रखनी है, उसके साथ अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं को भी अक्षुण्ण रखना होगा। अब अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय करने का समय आ गया है। यह समन्वय ही हमें आण्विक युग में सुरक्षा प्रदान कर विकास की ओर उन्मुख कर सकेगा।''

नवयुवकों को देश का सही इतिहास पढ़ाया जाना चाहिए। इसके पीछे दृष्टि यह रहे कि इतिहास की पढ़ाई के माध्यम से छात्रों में देश के बारे में गर्व, स्वाभिमान और राष्ट्रभक्ति की भावना जागे तथा भूतकाल में की गई गलतियों से शिक्षा लेकर उनकी पुनरावृत्ति न हो। विदेश में शिक्षाप्राप्ति हेतु जानेवाले छात्रों के लिये देश की संस्कृति, धर्म, परम्परा के बारे में विशेष जानकारी देने की व्यवस्था की जाय।

उपरोक्त दृष्टि से शिक्षा का स्वरूप बनने से ज्ञानवान, कौशल-निपुण एवं सेवाभावी छात्रों का निर्माण किया जा सकता है। इस प्रकार के छात्र राष्ट्रीय और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अपना योगदान दे सकते हैं एवं समस्याओं के समाधान में भी अपनी सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करने में सक्षम हो सकते हैं।

वर्तमान समय में शिक्षा शब्द का अर्थ आजीविका हेतु योग्यता एवं उत्तम ज्ञान प्राप्त करना है। शिक्षा मनुष्य को उदार, चरित्रवान, विद्वान और विचारवान बनाने के साथ-साथ उसमें नैतिकता, समाज और राष्ट्र के प्रति कर्तव्य और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था की भावना का संचार करती है। शिक्षा मनुष्य को विनयशील बनाती है। प्रत्येक माता-पिता का यह परम कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तान की यथेष्ट शिक्षा की व्यवस्था करें।

वैश्विक शिक्षा में भारत के प्रतिभाशाली युवक की भूमिका

भारत अपनी त्रिस्तरीय शिक्षा प्रणाली (पूर्वमाध्यमिक, इन्टरमीडियेट और स्नातक) के द्वारा विश्व में प्रदत्त चार स्नातकों में से एक स्नातक देने वाले देशों में गिना जा रहा है। भारत वैश्विक प्रतिभा का सबसे बड़ा एकल प्रदाता है।

वर्तमान समय केवल उच्च शिक्षा के कमियों को निकालने में अपनी शक्ति व्यय करने का नहीं है, बल्कि इनकी कमियों को दूर करते हुए वैश्विक रूप से अपने को सबसे आगे करने का है। हमें अपनी त्रिस्तरीय शिक्षा प्रणाली को इतना शक्तिशाली करना है कि यह हमारे युवा छात्रों में बौद्धिक, आर्थिक एवं समाजिक मूल्यों को सुदृढ़ कर सके। इसके लिए छात्र को केन्द्र में लेकर अपने शिक्षा प्रणाली को सबल करना होगा। शासन को इस हेतु एक स्पष्ट रूपरेखा बनानी होगी। निजी शिक्षण संस्थाओं का इस रूप में विकास करना होगा कि वे हमारी त्रिस्तरीय शिक्षा प्रणाली को सही रूप में इसकी गुणवत्ता को अक्षुण्ण रखते हुए लागू करें, ताकि गुणी छात्रों का अधिक उत्पादन हो। जो वैश्विक रूप में सभी प्रतियोगिताओं को उत्तीर्ण कर सकें और अपने को विश्व-पटल पर स्थापित कर सकें।

वर्तमान समय में ही गुणवत्ता उन्मुखी युवाओं की अत्यन्त आवश्यकता है।

चीन और अमेरिका से भी भारत आगे बढ़ सकता है

उच्च शिक्षा के क्षेत्र के होते हुए विकास गति को देखकर यह कहा जा सकता है कि अपना देश संयुक्त राज्य अमेरिका से ५ माह में आगे बढ़ जाएगा, लेकिन चीन को पीछे छोड़ने में इसे १५ साल लगेंगे। अत: हमें अपने उच्च शिक्षा में विकास की गति को बढ़ाना होगा।

विश्व में भारत की बढ़ती पहचान

भारत वैश्विक प्रतिभाओं के प्रदान करने में सबसे बड़ा प्रदाता है। भारत अनुसंधान उत्तमता के चौथे चक्र में है। इसके १०० विश्वविद्यालयों में अच्छे रिसर्च किये जा रहे हैं। अच्छे अनुसंधान करनेवाले विश्व के २०० विश्वविद्यालयों में २० विश्वविद्यालय भारत के हैं। अकेले पिछले २० वर्षों में, ६ भारतीय बुद्धिजीवियों को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। वर्तमान में अधिकांशत: विश्वविद्यालयों में ऑनलाइन पाठ्यक्रम शुरू किया गया है।

२०३० में वैश्विक जनसंख्या की सबसे अधिक उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले युवाओं की संख्या भारत में होगी। जिस तरह से भारत में शहरीकरण बढ़ रहा है तथा आम आदमी का स्तर बढ़ रहा है, वह उच्च शिक्षा में युवाओं को खींचने में सक्षम होगा। भारत की अर्थव्यवस्था के अत्यन्त तेजी से बढ़ने के कारण अन्य क्षेत्रों में अधिक शिक्षितों की आवश्यकता होगी, जिसके कारण उच्च शिक्षित युवाओं को रोजगार देने में भी हम सक्षम होंगे। औद्योगीकरण के कारण भारत कुशल जनशक्ति प्रदान करने वाले वैश्विक आपूर्तिकर्ता देश के रूप में उभर सकता है।

२०३० के आवश्यकता परिदृश्य को देखते हुए हमें एक सुगठित उच्च शिक्षा की जरूरत है। आनेवाले समय में हमारा देश कई सेवाओं का पूर्तिकर्ता देश होगा और कुशल प्रबन्धक उत्पादन का सबसे बड़ा बाजार होगा। शिक्षा के उत्साहवर्धक परिणाम हेतु, भारत ने बड़े स्तर पर संरचनात्मक और प्रणालीगत परिवर्तन कार्य आरम्भ किया है। अपने उच्च शिक्षा के आदर्श-उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए हमें उच्च शिक्षा की वर्तमान कमियों को दूर करते हुए एक उत्कृष्ट उच्च शिक्षा के लिये कार्य करना चाहिए।

OOO

विवेक-चूडामणि

श्री शंकराचार्य

अनुवादक - स्वामी विदेहात्मानन्द

आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ।
नावृतिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृतम् ।
यद्यस्त्यद्वैतहानिः स्याद् द्वैतं नो सहते श्रुतिः ।।५७०।।

अन्वय – आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां बन्धमोक्षणे वक्तव्ये (तु) अनावृतं ब्रह्मणः अन्य-अभावात् काचित् आवृतिः न। यदि अस्ति अद्वैतहानिः स्यात्, श्रुतिः द्वैतं सहते नो।

अर्थ – आवरण या उपाधि के रहने या न रहने से ही बन्धन या मोक्ष कहे जाते हैं। ब्रह्म का कोई भी आवरण नहीं है; द्वितीय वस्तु के अभाव में (अद्वय) ब्रह्म अनावरण है। यदि होता, तो फिर अद्वैत सिद्धान्त अप्रमाणित हो जाएगा, श्रुति (वेद) द्वैत को स्वीकार नहीं करती।

बन्धश्च मोक्षश्च मृषैव मूढा
बुद्धेर्गुणं वस्तुनि कल्पयन्ति ।
दृगावृतिं मेघकृतां यथा रवौ
यतोऽद्वयाऽसङ्गचिदेतदक्षरम् ।।५७१।।

अन्वय – मूढाः बन्धं च मोक्षं च बुद्धेः गुणं वस्तुनि मृषा एव कल्पयन्ति, यथा (मूढाः) मेघकृतां दृगावृतिं रवौ (कल्पयन्ति)। यतः एतत् अक्षरम् अद्वयम्-असङ्ग-चित्।

अर्थ – बन्धन चथा मोक्ष बुद्धि के गुण हैं, इन्हें मूढ़ लोग भ्रान्तिवश आत्म-स्वरूप पर आरोपित करते हैं, उसी प्रकार जैसे कि मेघ द्वारा दृष्टि के ढक जाने पर (सूर्य के ढक जाने की भ्रान्ति होती है); क्योंकि ब्रह्म तो अक्षय, अद्वय, असंग तथा चैतन्य-स्वरूप है।

अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ।
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः।।५७२।।

अन्वय – वस्तुनि (बन्धः) अस्ति इति यः प्रत्ययः च (बन्धः) अस्ति न इति यः (प्रत्ययः च), एतौ बुद्धेः एव गुणौ तु नित्यस्य वस्तुनः न।

अर्थ – ब्रह्मस्वरूप आत्मा में बन्धन है – यह बोध; और बन्धन नहीं है, ऐसा अनुभव – ये दोनों ही बुद्धि के गुण से होते हैं, नित्य वस्तु आत्मा के गुण से नहीं।

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में भारतीय शिक्षा-पद्धति

स्वामी अलोकानन्द
पूर्व प्राचार्य, वेद विद्यालय, बेलूड़ मठ

प्रस्तावना

आदिमानव अकेले उन्मुक्त भाव से वन-जंगलों में भ्रमण करता रहता था। प्रकृति से उपहार में प्राप्त कन्द-मूल फल तथा कच्चा मांस खाता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर यायावर के समान घुमक्कड़ जीवन यापन करता था। अचानक एक दिन उसके मन में शंका हुई कि धीरे-धीरे प्रकृति के उपहार समाप्त हो जाएँगे। भविष्य की बात को सोचकर उसने अन्नोत्पादन तथा पशुपालन करना सीखा। एकाकी जीवन से संगठित होना सीखा। आत्मरक्षा के लिए अस्त्र तैयार करना सीखा। शीत, वर्षा से बचने के लिए शरीर ढँकने का विचार किया। पेड़ की छाल, पत्ते तथा जीव-जन्तुओं के चमड़े से शरीर-आच्छादन की व्यवस्था हुई। पेड़ों के कोटरों तथा पहाड़ों की गुफाओं को छोड़कर पत्थरों-पत्तों से घर बनाना सीखा। सामूहिक समाज में कुछ नियम-कानून बनाए। दल के प्रधान के निर्देशन में सुचारू जीवन-यापन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। यह सब केवल आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसकी बुद्धि का उपयोग करने पर शिक्षा का आलोक प्राप्त हुआ।

तत्पश्चात् क्रमशः उन्नति करते हुए वही मनुष्य एक ऐसे युग में आ पहुँचा, जब उसके मन में सेब को पृथ्वी पर गिरते हुए देखकर यह जिज्ञासा जाग्रत हुई कि सेब ऊपर की ओर क्यों नहीं जाता? एक पत्थर को ऊपर फेंकने पर वह पुनः पृथ्वी पर क्यों गिर जाता है? आकाश में दिन में सूर्य दिखाई पड़ता है, चन्द्रमा क्यों नहीं दिखता? इसी तरह, रात में सूर्य क्यों नहीं दिखाई पड़ता? वर्षा, शीत, गर्मी किस प्रकार बदलते हुए चक्र में आते हैं? प्रकृति की गोद में अनेक प्रकार के आश्चर्यपूर्ण क्रिया-कलापों को देखकर उसके मन में आया, क्यों? क्यों? क्यों? ऐसा प्रश्न जगा। उसके बाद मनुष्य उसके कारण की खोज करते हुए नए-नए तत्त्वों और तथ्यों का आविष्कार करने लगा। ये सब विज्ञान के नाम से और वैज्ञानिक आविष्कार के रूप में प्रमाणित हुए। आविष्कारकों को वैज्ञानिक कहा गया।

इसके विपरीत कुछ लोग विज्ञान की अन्तिम सीमा पर पहुँचकर भी नहीं रुके। वे रात-दिन, सर्दी-गर्मी, जीवों के जन्म, वृद्धि, क्षय, विनाश इन सब व्यवस्थित विधान के पीछे कारण की खोज करते-करते उसका अन्त नहीं पा सके। तब वे बाह्य प्रकृति को छोड़कर अन्तर्प्रकृति में उसकी खोज में लग गये। अन्त में उसने 'प्राणस्य प्राणः – प्राण का प्राण' 'मनसो मनः – मन का मन', मन-वचन से अतीत एक परम सत्ता को ही सबके मूल में देखा। एक ही शक्ति सबके मूल में है। विविध रंग-ढंग वाला यह विचित्र संसार एक ही शक्ति का खेल दिखा। एक ज्ञान से सब ज्ञान होता है, इसके आविष्कारकों को अध्यात्म-वैज्ञानिक या ऋषि कहा गया।

बहिर्विज्ञान या अध्यात्म विज्ञान के ये आविष्कार, सभी मनुष्यों के अज्ञात को जानने, अगम्य तक पहुँचने की आकांक्षा से ही किए गए। इसी आकांक्षा की प्रेरणा से वह बाह्य प्रकृति और अन्तःप्रकृति के विषय में शिक्षा प्राप्त करता है। शिक्षा ही जगत में सभ्यता और संस्कृति के विकास के मूल में रही है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य अपनी समस्या के समाधान में सक्षम होता है। संसार की सभी समस्याओं का समाधान कभी भी किसी एक व्यक्ति संस्था, सरकार द्वारा सम्भव नहीं है। व्यक्ति यदि शिक्षा-सम्पन्न हो एवं प्रत्येक व्यक्ति यदि समस्या के समाधान का प्रयास करे, तो विविधता में भी एकता सम्भव होगी, सम्पूर्ण विश्व एक घर के सदृश हो जाएगा – 'यत्र विश्वं भवत्येकनीड़म्।'

स्वामी विवेकानन्द ने समस्त संसार का परिभ्रमण करके यही वचन कहा, "यूरोप के बहुत से नगरों का भ्रमण करके, वहाँ के निर्धनों की भी सुख-सुविधा और शिक्षा देखकर मैं अपने देश के गरीबों के बारे में सोचकर आँसू बहाया करता था। ऐसी दशा क्यों हुई? उत्तर मिला – शिक्षा। शिक्षा से आत्मविश्वास, आत्मविश्वास से अन्तर्निहित ब्रह्म जाग उठते हैं।" सच्ची शिक्षा मनुष्य के मन में आत्मविश्वास जाग्रत करती है, जब तक वह स्वयं को नहीं समझ पाता कि मैं भी कुछ कर सकता हूँ, तब

तक उसको कोई कुछ भी सिखा नहीं सकता। स्वामीजी ने उसी आत्मविश्वास-परक शिक्षा के ऊपर जोर दिया है। एक बार आत्मविश्वास जाग्रत हो जाने पर, मनुष्य अपनी व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय समस्या के समाधान में सक्षम हो जाएगा।

पाश्चात्य सभ्यता में भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति की चरम सीमा होने पर भी प्राच्य शिक्षा में वे सब बातें नहीं कही गईं। वेद हमें शाश्वत शान्ति, शाश्वत सुख प्राप्ति हेतु और जीवन-समस्या के स्थायी समाधान के लिए अन्तः प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए शिक्षा देते हैं। पाश्चात्य शिक्षाविद् बौद्धिक, नैतिक और भौतिक विषयों में शिक्षा के प्रयोग के सम्बन्ध में विशेष रुचि रखते थे। स्वामी विवेकानन्द ने आत्मिक विकास के ऊपर जोर दिया है। भारतीय वेदों-उपनिषदों की शिक्षा में आत्मिक विकास ही लक्ष्य है। स्वामी विवेकानन्द के सम्मुख आदर्श शिक्षक ज्ञानमूर्ति एवं वेदमूर्ति श्रीरामकृष्ण थे। श्रीरामकृष्ण से भेंट के पहले नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) अज्ञेयवादी थे और पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित थे। किन्तु वे कट्टरवादी या एकांगी नहीं थे, बल्कि विज्ञान-सम्मत युक्तिवादी थे। उसी युक्ति के आधार पर विचार करते हुए श्रीरामकृष्ण के समीप आकर वे जीवन की समस्या का समाधान प्राप्त करते हैं। अज्ञेयवाद के अनुशीलन में ईश्वर के प्रति आस्थाहीन नरेन्द्र अनेक स्थानों से भ्रमण करते हुए हताश होकर साक्षात् सत्य श्रीरामकृष्ण के समीप उपस्थित होकर अपने सबल विचार को व्यक्त करके प्रश्न करते हैं – "क्या आपने ईश्वर को देखा है?" उन्हें सीधा-सा उत्तर भी मिल गया, "हाँ देखा है? जैसे तुमको देख रहा हूँ, उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से।"

श्रीरामकृष्ण के इस उत्तर से धीरे-धीरे नरेन्द्रनाथ का पाश्चात्य-मोह चला गया। उन्होंने क्रमशः प्रत्यक्ष वेदान्त के आलोक से आलोकित होकर घोषणा की – 'Education is the manifestation of perfection already in man.' – मनुष्य में अन्तर्निहित पूर्णत्व की अभिव्यक्ति शिक्षा है। इस पूर्णता को प्राप्त करने के लिए बाह्य विषयों के ज्ञान के साथ ही आन्तरिक ज्ञान के आलोक पर पड़े हुए आवरण को भी हटाना होगा। इसके लिये संकल्प की दृढ़ता, चारित्रिक विकास, सद्गुरु का सान्निध्य प्राप्त करना आवश्यक है। स्वामीजी मनुष्य-निर्माणकारी शिक्षा चाहते थे।

भारतीय शिक्षा का विकास क्रम

वेद ही भारत के सनातन शास्त्र हैं। वैदिक समाज ही सार्वजनीन आदर्श रहा है। वैदिक युग में मानव का जीवन चार अवस्थाओं अथवा आश्रमों में निबद्ध था। ब्रह्मचर्याश्रम अर्थात् शिक्षार्जन काल, गृहस्थाश्रम द्वारा समाजिक दायित्वों का पालन, वानप्रस्थ में उसी शिक्षा की सर्वांगपूर्ण आध्यात्मिक साधना करना और चतुर्थाश्रम संन्यासाश्रम है, इसमें जीवन सर्वांगीण परिपूर्ण और धन्य हो जाता है। परवर्ती काल में चाणक्य पंडित के नीतिश्लोक में हमें उन्हीं चारों आश्रमों का सुन्दर वर्णन मिलता हैं –

'प्रथमे नार्जिता विद्या, द्वितीये नार्जितं धनम्।
तृतीये नार्जितं पुण्यं, चतुर्थे किं करिष्यति।।'

उस समाज में शिक्षा सब के लिए अत्यावश्यक थी। क्योंकि तत्कालीन व्यवस्था में दिखता है कि ब्रह्मचर्याश्रम में अर्थात् शिक्षार्जन काल में स्नातक नहीं होने तक विवाह या गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का नियम नहीं था। किन्तु वह शिक्षा केवल घर में सम्पन्न नहीं होती थी। प्राथमिक स्तर की कुछ शिक्षा बालक अपने माता-पिता के पास सीखता था। इसके बाद आठ वर्ष की आयु में उसे गुरु-गृहवास करना होता था। वहाँ वे घर में तथा बाहर रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे। गुरु के मुख से सुनकर अपनी अन्वेषक वृत्ति की सहायता से उसकी गहराई में जाकर छिपे रहस्य को ढूँढ़ निकालते थे। बाद में उसी आविष्कृत तत्त्व की गुरु से स्वीकृति प्राप्त करके शिक्षा सम्पन्न होती थी।

क्रमशः युग बदला। शिक्षा का दायित्व राजाओं का हो गया। मौर्य, गुप्त आदि अनेक युगों के पश्चात् भारतवर्ष में मुसलमानों का शासन काल आया। हिन्दू अथवा बौद्ध युग में भारत की वैदिक विचारधारा किसी-न-किसी रूप में अस्तित्व में थी। मुसलमान युग में उसमें कुछ परिवर्तन हुआ। सामाजिक जीवन और शिक्षा-संस्कृति में यवनों के आचरण की छाया पड़ गई। इससे शुद्ध तथा पवित्र वैदिक विचाराधारा कुछ अंशों में बाधित हुई। मुसलमान युग के बाद इस देश में 'राजदण्ड के रूप में व्यापारी का मानदण्ड' आ गया, अर्थात् सात समुन्दर पार के अंग्रेजों का शासन आया। राजदण्ड को हाथ में लेते ही चतुर अंग्रेज यह समझ गए थे कि इस देश पर दीर्घकालिक

शासन बानाए रखने के लिए इसके प्राण पखेरू धर्म को नष्ट करना होगा। सीधे-सीधे धर्म पर आघात करके वह सम्भव नहीं था, इसीलिए प्रकारान्तर से अंग्रेजों ने पाचक-रस के समान समाज-शरीर पर, व्यक्ति-तन पर, नीति-मर्यादा के अंगों पर धर्म का मारक-बीज प्रवेश करा दिया। धन का लोभ दिखाकर जनसमुदाय को किरानी बनाने वाली शिक्षा देना आरम्भ कर दिया। शिक्षा-व्यवस्था में भारतीय प्राचीन वैदिक शिक्षा और संस्कृति के विनाश के लिए अंग्रेजों ने नवीन शिक्षाप्रणाली प्रारम्भ की। इस शिक्षा से भारतवासियों का आत्मसम्मान विनष्ट हो गया, वे पर-निर्भरशील होना सीख गए, प्राचीन शास्त्रों में उनकी आस्था लुप्त हो गई और पूर्णत: नकारात्मक सोच हो गई। इस शिक्षा को कानूनी रूप देने के जनक मैकाले साहब के नाम से ही मैकाले-प्रणाली से जाना गया, वही शिक्षा इस देश में प्रारम्भ हुई। विधि की कैसी निर्मम विडम्बना है कि स्वाधीन भारत में भी हम उस मैकाले-पाश को काट नहीं सके, बल्कि वर्तमान में हम एक ऐसे मोड़ पर जाकर खड़े हो गए हैं, जहाँ शिक्षा द्वारा आत्म-सम्मान के बोध के साथ ही, स्वाधीन इच्छा, मन:संयम, चारित्रिक दृढ़ता, आत्मविश्वास आदि सब कुछ की तिलांजलि देकर केवल कुछ डिग्रीधारी यांत्रिक मानव का निर्माण करते हैं। उनकी दशा 'यथा खरश्चन्दन-भारवाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य' ऐसी हो गई है।

स्वामी विवेकानन्द इस युग के सन्धिक्षण में आए। वे भले ही पहले अज्ञेयवाद की ओर झुके हों, किन्तु अपने विचारशील मन, युक्तिवादी बुद्धि से उन्होंने प्राचीन और नवीन दोनों ही मतों की समीक्षा की थी। युवक नरेन्द्रनाथ ने अपने छात्र-जीवन में हर्बर्ट स्पेन्सर की (Education) शिक्षा विषयक पुस्तक का अनुवाद किया था और लेखक के साथ पत्र व्यवहार करके प्रशंसा प्राप्त की थी। उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों में हर्बर्ट स्पेन्सर महत्वपूर्ण व्यक्ति थे। डार्विन के पहले ही उन्होंने क्रमविकासवाद का अन्वेषण किया था। किन्तु उनकी दार्शनिक विचारधारा पूर्ण रूप से बुद्धिवादी थी। उन्होंने शिक्षा के बौद्धिक, नैतिक और भौतिक प्रयोग के ऊपर जोर दिया था। यद्यपि नरेन्द्रनाथ उस सिद्धान्त के समर्थक थे, किन्तु श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में आकर उनकी अन्तर्दृष्टि खुल गई थी। ये श्रीरामकृष्ण कौन थे?

श्रीरामकृष्ण ने उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध में बंगाल के एक साधारण ग्राम कामारपुकुर में जन्म लिया। उस समय वहाँ जाति-पाँति का भेद था। उनकी शिक्षा-दीक्षा सामान्य लोगों के बीच में होती रही। समाज धर्म के नाम पर कुरीतियों की बेड़ियों में जकड़ा हुआ था। इसी समय एक गरीब, चरित्रवान, ब्रह्मवेत्ता सदाचारी ब्राह्मण के घर में श्रीरामकृष्ण का जन्म हुआ। उनका बचपन गाँव के सरल परिवेश में बीता। वे पढ़ने-लिखने के लिये गाँव के विश्वविद्यालय लाहा बाबू की पाठशाला में भेजे गए। बालक बगल में पुस्तक दबाकर शिक्षा प्राप्त करने चल पड़ा। तब कोई नहीं जानता था कि एक दिन यही बालक शिक्षा के इस आवरण को छिन्न-भिन्न कर वास्तविक शिक्षा के प्रकाश से सारे विश्व को प्रकाशित करेगा। लिखने-पढ़ने के बीच में बालक की अन्वेषण मनोवृत्ति सबके हृदस्थ विचारों को देखता रही। गणित उसके लिए पहेली बना रहा किन्तु नाटक, गायन आदि खूब आनन्ददायक लगता था। उसमें स्वाधीन रूप से स्वयं को अभिव्यक्त करने का पर्याप्त स्थान था। गणित के बँधे-बँधाए नियम नीरस थे। इसीलिए माणिकराजा के आम के बगीचे में, पाइन लोगों के शिवालय में, मैदान में, सरोवर के घाटों पर, नाटक के गीतों और भारत के सनातन वेद-पुराण की कथाओं का अभिनय करके जनसाधारण को सामूहिक शिक्षा देने लगे।

सब कुछ अच्छा चल रहा था। किन्तु परिवार की निर्धनता ने बालक को ग्राम्य परिवेश को छोड़कर कोलकाता महानगर में आने के लिए बाध्य कर दिया। बड़े भाई के काम में सहायता होगी तथा साथ ही अपने ज्ञान के भण्डार को भी बढ़ा सकें, इसी उद्देश्य से वे कोलकाता चले आए। किन्तु यहाँ भी कुछ ही दिनों में उनकी अन्तर्दृष्टि ने यह समझा लिया कि यह सब शिक्षा की नकल जैसा ही है। अन्दर से सारहीन यह शिक्षा भौतिक सुख-सुविधा तो दे सकती है, किन्तु उसके बाद क्या होगा? 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति – पुण्य नष्ट होने पर पुन: मृत्युलोक में आकर दुख भोगना होगा।' केवल भोग ! भोग ! भोग ! जीवन में कोल्हू के बैल की तरह दिन-रात पिसते रहना। क्या यह भी कोई जीवन है? इसलिए उन्होंने निर्णय लिया कि 'जीविकोपार्जन वाली शिक्षा' की आवश्यकता नहीं है।

दक्षिणेश्वर के देवालय में आकर पंचवटी का एकान्त,

कलुषहारिणी गंगा का पवित्र सान्निध्य, माँ भवतारिणी की अनुपम मूर्ति आदि ने उनके मन में प्रशान्ति ला दी। वे एकान्त में, 'कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति', इस वेदवाक्य के अनुशीलन में लीन हो गए। पंचवटी की छाया के सुशीतल परिवेश में साधक आत्मलीन हो गए। वे बाह्य जगत की सत्ता के अतीत जाकर असीम के साथ एकीभूत हो गए। इसको समाधि कहते हैं। इसी एकाग्रता के कणांश से वैज्ञानिक संसार के किसी आश्चर्यजनक वस्तु का आविष्कार करते हैं। इसी एकाग्रता के घनीभूत विग्रह श्रीरामकृष्ण काँच की आलमारी की तरह मनुष्यों के भीतर-बाहर देखते हैं, नित्य और लीला दोनों में ही विचरण करते हैं।

अज्ञेयवादी स्पेन्सर के प्रबल समर्थक नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के समीप आकर उपस्थित होते हैं। उनके ज्ञान का द्वार खुल गया। स्पेन्सर को छोड़कर वे भारत के वेदान्तिक आदर्श के मूर्तरूप श्रीरामकृष्ण को देखकर समझ जाते हैं, 'शिक्षा मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करने का साधन है।' बाह्य जगत के द्वारा शिक्षा प्राप्त करके पूर्णता पाना सम्भव नहीं है। इसके लिए चाहिए – राख से ढकी हुई अपने भीतर की अग्नि को प्रज्ज्वलित करना। जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के पंक से अवरूद्ध ज्ञान के विकास को प्रकट करना होगा। परवर्ती काल में स्वामी विवेकानन्द ने अपने विविध व्याख्यानों, रचनाओं, पत्रों आदि में इस शिक्षा-पद्धति के सम्बन्ध में सूत्र रूप में बहुत सी बातों का उल्लेख किया है। उसी के आलोक में हमें भारतीय शिक्षा पद्धति की एक रूपरेखा दिखाई देती है।

आदर्श शिक्षक श्रीरामकृष्ण

ज्ञान प्रत्येक जीव में बीज रूप में विद्यमान रहता है। एक बीज में वटवृक्ष की सम्भावना सूक्ष्म रूप में निहित रहती है। उपयुक्त परिवेश की सहायता से वह विशाल वृक्ष में रूपान्तरित हो जाता है। मानव में जन्म से ही जिज्ञासा और अनुसन्धान-वृत्ति रहती है। जब शिशु बोल नहीं पाता, तब भी वह कहीं कुछ बाधा होने पर उसके विरुद्ध विद्रोही भाव व्यक्त करता है तथा विजय का आनन्द प्रकट करता है। जब वह बोलने में समर्थ होता है, तब कोई बाधा आने पर उसमें जिज्ञासा जागती है 'क्यों'? इस 'क्यों' का उत्तर बड़े लोग नहीं देना चाहते। अनेकों बहाने बनाकर बच निकलते हैं अथवा उसे दूर करने हेतु दण्ड देते हैं। इसके फलस्वरूप शिशु के मन में वह दाग मानसिक स्तर पर एक दूसरी कठिनाई पैदा करती है। उसमें जानने की प्रबल इच्छा जाग्रत होती है, उसकी विद्रोही मनोवृत्ति बनने लगती है। विषयानुसार वह कभी अच्छा और खराब भी होता है।

फिर किसी की मन्दबुद्धि को देखकर हम कहते हैं, 'तुम्हारे द्वारा नहीं होगा।' तुम इस विषय में कमजोर हो।' ये सब अपने दायित्व से बचकर भागना है। यद्यपि कवि हमें सुनाते हैं कि 'एक बार न हो सके, तो चेष्टा करो हजार', फिर भी कर्तव्यहीन शिक्षक अपने उत्तरदायित्व से बचकर छात्र के ऊपर दोषारोपण करके कहता है, 'इसके दिमाग में गोबर भरा है, इससे कुछ नहीं होगा।' छात्र भी समझ गया कि उसके द्वारा कुछ नहीं होगा, वह कमजोर है। कभी-कभी कोई सुयोग्य व्यक्ति इसका अतिक्रमण कर अपने भाग्य को प्रतिष्ठित करते हुए देखे जाते हैं। किन्तु अधिकांशत: लोग असफल रहते हैं। इसलिये स्वामीजी ने पहले सबको दुर्बलता छोड़कर सबल होने का आह्वान किया है।

शिक्षक की शिक्षा प्रेरक होती है, किन्तु उसको आत्मसात् करने का दायित्व छात्र का है । अपने भीतर निहित ज्ञान के प्रकाश को प्रकट करना होगा। इसलिए छात्र अपने स्वयं के भीतर से उसका आविष्कार करेगा। छान्दोग्य उपनिषद में हम देखते हैं कि श्वेतकेतु अपने पिता के पास नौ बार आत्मतत्त्व का उपदेश प्राप्त करते हैं, प्रत्येक बार वे अपने अनुसन्धान को बताते हैं। पिता स्वीकृति देकर उन्हें और भी उपदेश देते हैं। अपनी ऐसी जिज्ञासा से श्वेतकेतु तत्त्वज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होते हैं।

युवक नरेन्द्रनाथ श्रीरामकृष्ण के पास आते हैं। श्रीरामकृष्ण कहते हैं, सब उसी चैतन्य का प्रकाश है। एक दिन वे नरेन्द्रनाथ को अष्टावक्र संहिता का तत्त्व पढ़ने को कहते हैं। नरेन्द्र उनका उपहास करते हैं, महाशय, यह घड़ा, थाली-कटोरी सब ईश्वर है, ऐसा पढ़ने से क्या होगा? उसके बाद श्रीरामकृष्ण के दर्शन आदि की बातें सुनकर तो नरेन्द्र ने उन्हें मनोरोगी ही समझा। श्रीरामकृष्ण कोई विरोध नहीं करते हैं। वे आदर्श शिक्षक हैं। बीज बोते जाते हैं, मन में एक दृढ़ संस्कार छोड़ देते हैं। नरेन्द्र

की हर चेतना में वही संस्कार उसके मनन में सहायक होता है। इसी मनन की गहराई में जाकर उन्होंने अनुभव किया, 'सभी जीवों में वही प्रेममय ईश्वर हैं।' शास्त्रकार के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' को उन्होंने प्रत्यक्ष अनुभव किया। वे शक्ति को नहीं मानते थे। श्रीरामकृष्ण केवल देखते जा रहे हैं। अन्त में दक्षिणेश्वर में एक दिन नरेन्द्र ने 'त्वं अपारा' नामक विशेष भजन सिखा देने के लिए श्रीरामकृष्ण से कहा। श्रीरामकृष्ण ने सिखा दिया। नरेन्द्र सारी रात उसी शक्ति का मूर्त रूप सर्वत्र देखते रहे। नरेन्द्र समाधिस्थ हो गए। अगले दिन सुबह एक भक्त आते हैं। नरेन्द्र सोए हुए हैं और श्रीरामकृष्ण आनन्द से ताली बजाकर कहते हैं, 'नरेन्द्र ने काली को मान लिया।'

श्रीरामकृष्ण आदर्श शिक्षक थे। उन्होंने केवल प्रेरक के रूप में नरेन्द्र के मन की सारी बाधाओं को हटा दिया था। नरेन्द्र के मन में अन्तर्निहित ज्ञान का प्रकाश हो गया। इसीलिए बाद में स्वामी विवेकानन्द के रूप में वे कहते हैं, 'मनुष्य की आत्मा के भीतर अनन्त शक्ति रहती है, मनुष्य उसके सम्बन्ध में न जाने, फिर भी वह रहती है, केवल उसको जानने की आवश्यकता है। प्रत्येक विषय की व्याख्या तुम्हारे भीतर है। कोई कभी दूसरे के द्वारा शिक्षित नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही अपने को शिक्षा देनी होगी, बाहर के आचार्य केवल प्रेरणा प्रदान करते हैं। उस प्रेरणा से हमारे अन्तर्यामी आचार्य हमें सभी विषयों को समझाने के लिये प्रेरित होते हैं, तब सब कुछ हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है, इसलिये सब कुछ सुस्पष्ट हो जाता है। तब हम अपनी आत्मा के भीतर उन सभी तत्त्वों का अनुभव करेंगे और अनुभूति ही प्रबल इच्छाशक्ति के रूप में परिणत हो जाएगी।' ○○○

(अनुवादक – रामकुमार गौड़, वाराणसी)

भगवान देखते हैं भाव। वे देखते हैं हार्दिक आकर्षण। उनके ऊपर यदि प्रेम है तो फिर किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं। प्रेम के साथ यदि एक बार भी उनका नाम लिया जाए, तो मन प्राण आनन्द से भर जाते हैं। प्रेम के साथ एक बार नाम लेना लाख-लाख जप से अधिक है।

स्वामी शिवानन्द (श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य)

श्रीकृष्ण का स्वरूप

श्रीरामकृष्ण परमहंस

श्रीकृष्ण प्रेम से बंकिम बने थे। श्रीमती राधा के प्रेम से त्रिभंग हुए थे। कृष्ण-रूप की व्याख्या कोई-कोई करते हैं, श्रीराधा के प्रेम से त्रिभंग।

काला क्यों है जानते हो? और साढ़े तीन हाथ – उतने छोटे क्यों हैं?

जब तक ईश्वर दूर हैं, तब तक काले दिखते हैं; जैसा समुद्र का जल दूर से नीला दिखता है। समुद्र के जल के पास जाने से और हाथ में उठाने से फिर जल काला नहीं रहता; उस समय बहुत साफ-सफेद दिखता है। सूर्य दूर है, इसलिए छोटा दिखता है, पास जाने पर फिर छोटा नहीं रहता, ईश्वर का स्वरूप ठीक जान लेने पर फिर काला भी नहीं रहता, छोटा भी नहीं रहता। यह बहुत दूर की बात है। समाधिमग्न न होने से उन्हीं की सब लीला है, यह समझ में नहीं आता। 'मैं-तुम' है तब तक नाम-रूप भी हैं। उन्हीं की सब लीला है। 'मैं-तुम' जब तक रहते हैं, तब तक वे अनेक रूपों में प्रकट होते हैं।

श्रीकृष्ण पुरुष हैं, श्रीमती राधा उनकी शक्ति हैं – आद्या शक्ति। पुरुष और प्रकृति। युगल-मूर्ति का अर्थ क्या है? पुरुष और प्रकृति अभिन्न हैं। उनमें भेद नहीं है। पुरुष प्रकृति के बिना नहीं रह सकता; प्रकृति भी पुरुष के बिना नहीं रह सकती। एक का नाम लेने से ही दूसरे को उसके साथ ही समझना होगा। जिस प्रकार अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। दाहिका शक्ति को छोड़कर अग्नि का चिन्तन नहीं किया जा सकता और अग्नि को छोड़कर दाहिका शक्ति का भी चिन्तन नहीं किया जा सकता। इसलिए युगल-मूर्ति में श्रीकृष्ण की दृष्टि श्रीमती की ओर, और श्रीमती की दृष्टि श्रीकृष्ण की ओर है।

श्रीमती का गौर वर्ण है, बिजली की तरह; श्रीमती ने नीली साड़ी पहनी है और उन्होंने नीलकान्त मणि से अंग को सजाया है। श्रीमती के चरणों में नुपुर हैं, इसलिए श्रीकृष्ण ने भी नुपुर पहने हैं, अर्थात् प्रकृति के साथ पुरुष का अन्दर तथा बाहर मेल है। ○○○

काव्य-लहरी

आय पड़ा प्रभु द्वार तुम्हारे

कार्ष्णि गोपालदास महाराज, मथुरा

करिए यदुनाथ सनाथ मुझे,
अब आय पड़े प्रभु द्वार तुम्हारे ।
अब और न ठौर रही जन को,
बिन आप कृपानिधि दीन पुकारे ।।
मम पाप अनेक विचार विभो,
परित्याग करो नहि नन्ददुलारे ।
तव नाम दयालु सुना हमने,
निगमागम सन्त निरन्त उचारे ।।

प्रकृति से शिक्षा

रश्मि शुक्ला, इलाहाबाद

फूलों से हम हँसना सीखें, भौरों से हम गाना ।
सूरज की किरणों से सीखें, जगना और जगाना ।।
पर्वत की चोटी से सीखें, काफी ऊँचे उठ जाना ।
पेड़ों की डाली से सीखें फल पाकर के झुक जाना ।।
पेड़ों के पतझड़ से सीखें, दुख में धीर धराना ।
भौरों से हम सब ही सीखें, मीठे गाने गाना ।।
सागर की लहरों से सीखें, मन में गहराई लाना ।
सूई और धागे से सीखें, बिछुड़े गले लगाना ।।
मुर्गे की बोली से सीखें, प्रात समय ही उठ जाना ।
पानी की मछली से सीखें, देश हेतु मर मिट जाना ।।

मेरी माँ

श्रीमती पायल दीक्षित

माँ हृदय का आकाश है, माँ जीवन का प्रकाश है ।
वर्तमान भविष्य इतिहास है, माँ पूजा-पाठ अरदास है ।
माँ निराशा में आश है, दुख में उमंग उच्छ्वास है ।
माँ संकटों में सहारा है, टूटे जीवन का अधारा है ।
माँ से मेरा तन-मन है, माँ मेरा जीवन-दर्शन है ।
माँ ज्ञान का भंडार है, मेरे जीवन की आधार है ।
माँ मेरी व्याख्यान है, माँ ममतामयी वरदान है ।

प्रभु तुम अमर संगीत हो !

अनुराग 'तन्हा', दिल्ली

बोल हूँ निष्प्राण सा मैं तुम समूचे गीत हो ।
बाँस की मैं बाँसुरी हूँ, तुम अमर संगीत हो ।।
तुम हिमालय का शिखर हो, मैं धरातल की शिला,
सिन्धु का विस्तार हो तुम, मैं अकिंचन बुलबुला ।
मैं नयन हूँ तुम हो ज्योति, मैं हृदय तुम प्रीत हो ।।
प्यास हूँ मरुस्थल की मैं, तुम हो सावन की घटा,
मैं हूँ मैली रात और तुम भोर की निर्मल छटा ।
मैं प्रतीक्षा तुम मिलन हो, मैं विरह तुम मीत हो ।।
तुम जगत के हो नियन्ता, तुम धरा की टेक हो,
मैं बदलता ही रहा हूँ, तुम सदा से एक हो ।
मैं हूँ परिवर्तन का मारा, तुम सनातन रीत हो ।।

परमहंस की जय हो

जितेन्द्र कुमार तिवारी, कोरबा

जय हो परमहंस की जय हो,
जय हो रामकृष्ण की जय हो ।
जीवमात्र में दयाभावना,
सदा सभी के लिए उदय हो ।
दीन-दुखी की सेवा करना,
धर्म सभी का करुणामय हो ।
परहित परउपकारोंवाला,
शिव संकल्पित मनुज-हृदय हो ।
स्वार्थ नहीं जीवन में व्यापे,
जन-गण का मन सदा सदय हो ।

शिक्षा है अनमोल रतन

स्वामी दिवाकरानन्द

शिक्षा है अनमोल रतन, विद्यार्थी इसका करो जतन ।
चोर न इसे चुराता है, लुटेरा लूट न पाता है ।
बचाने से घट जाता है, व्यय करने से बढ़ जाता है ।
शिक्षा महान बनाती है, अशिक्षा शैतान बनाती है ।
शिक्षा से सम्मान मिले, इसके बिन अपमान मिले ।
अत: करो शिक्षा वन्दन, माँ सरस्वती तव अभिनन्दन ।

स्वाभिमानी बनो !

बालक हरि अपने माता-पिता के साथ कलकता में रहता था । वे तीन भाई और तीन बहन थे। बात बहुत पुरानी है। हरि की उम्र तीन साल की थी। उस समय कलकते का उत्तरी भाग जंगल से भरा रहता था। रात की तो बात ही नहीं, वहाँ दिन में भी सियारों की आवाज सुनाई देती थी। एक दिन एक सियार ने आकर बालक हरि पर आक्रमण कर दिया। जैसे ही हरि की माँ ने देखा, वह दौड़ आई। माँ ने अपने बेटे को उठा लिया। सियार ने बालक को न पाकर माँ को ही काट लिया। उन दिनों चिकित्सा-शास्त्र इतना आधुनिक नहीं था। अपने प्राण से भी प्रिय बेटे के प्राण बचाने के लिए माँ ने अपनी जान दे दी। इस तरह बालक हरि की माँ चल बसी।

अब हरि को पालने-पोसने का भार उसकी भाभी पर पड़ा। वे बड़े स्नेहपूर्वक हरि की देखभाल करती थीं। हरि हमेशा भाभी के साथ रहता और उनका दुलारा हो गया। बड़े होने के बाद हरि अपनी भाभी को कभी नहीं भूला और उनकी सेवा की। हरि बचपन में बड़ा शान्त और आज्ञाकारी था। भोजन में उसकी कोई रुचि-अरुचि न थी। जो मिलता था, उसे सन्तोष के साथ खा लेता था। वह बहुत सारी धार्मिक पुस्तकें पढ़ता। हरि के भाई भी उसे स्नेह करते थे ।

हरि अपने मुहल्ले के लड़कों के साथ खूब घुल-मिल कर रहता था। वह और उसके मित्र अखाड़े में जाकर दण्ड-बैठक लगाते और कुश्ती लड़ते। वह एक साथ सौ दण्ड और पाँच सौ बैठक लगाता था। हरि जो भी मन में ठान लेता, उसे पूरा करके ही रहता। हरि का उपनयन संस्कार तो बहुत पहले ही हो गया था। वह प्रतिदिन बड़ी निष्ठा से गायत्री-जप और सन्ध्या-वन्दन करता था।

हरि में आत्म-विश्वास बहुत था। वह किसी से डरता नहीं था। हरि के एक चचेरे भाई का नाम था प्रियनाथ। एकबार वह गंगातट से मुँह लटकाए हुए आ रहा था। हरि ने उसका बुझा हुआ चेहरा देखकर पूछा, 'क्या हुआ है, भैया?' उत्तर में प्रियनाथ ने कहा, 'किसी एक व्यक्ति ने मुझे बहुत उल्टा-सीधा कहकर मेरा अपमान किया।' हरि ने आश्चर्य होकर कहा, 'इस तरह अपमानित होकर तुम घर कैसे लौटोगे? चलो, अभी चलते हैं, उस व्यक्ति को सबक सिखाने।' हरि अपने भाई के साथ उस व्यक्ति के सामने गया। उस व्यक्ति के सामने अंगुली दिखाते हुए उसने अपने भाई से गरजकर कहा, 'मेरे सामने तुम इसे अच्छी तरह जूते लगाओ। देखूँ क्या करता है।' हरि का लाल चेहरा देखकर वह व्यक्ति जूता खाकर शान्त खड़ा रहा। बड़ा होने पर हरि कहता, 'अन्याय देखने पर उसका प्रतिकार करना चाहिए, नहीं तो एक प्रकार से उसमें सहमति देना ही हो जाता है।' ○○○

सर आशुतोष मुखर्जी कलकता विश्वविद्यालय के द्वितीय कुलपति थे । उनके साहस, आत्म-सम्मान और देशप्रेम की भावना से प्रेरित होकर लोग उन्हें 'टाईगर ऑफ बंगाल' कहते थे ।

एक बार वे साधारण कपड़ों में रेलवे की प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे । उसी डिब्बे में एक अंग्रेज भी बैठा था । उस समय देश अंग्रेजों के अधीन था और वे भारतीयों को तुच्छ समझते थे । उस अंग्रेज को अपने साथ भारतीय का सफर करना अच्छा नहीं लग रहा था । उसने कई बार सर आशुतोष मुखर्जी को डिब्बा बदलने के लिए कहा, किन्तु उन्होंने बात नहीं मानी ।

अंग्रेज का क्रोध बढ़ता गया और जब आशुतोष मुखर्जी जी सो गए, तो उसने उनका जूता उठाकर खिड़की से बाहर फेंक दिया । जब आशुतोष मुखर्जी जी की नींद खुली, तो उन्हें समझने में देर नहीं लगी कि यह शैतानी किसकी है । अंग्रेज उस समय खर्राटे मार रहा था । आशुतोष मुखर्जी जी ने उनका टंगा हुआ कोट उठाया और बाहर फेंक दिया ।

थोड़ी देर बाद जब अंग्रेज उठा, तो उसने चारों ओर ढूँढ़ते हुए पूछा, 'मेरा कोट कहाँ है?' सर आशुतोष ने हँसते हुए कहा, 'आपका कोट मेरा जूता लाने गया है ।' बिचारा अंग्रेज कुछ भी बोल न सका । ○○○

युवकों की जिज्ञासा और उसका समाधान

स्वामी सत्यरूपानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

३२. हमारे लक्ष्य की प्राप्ति में बाधा डालनेवाले मानसिक चिन्ताओं, भय आदि से मुक्त होने के लिए क्या करना चाहिए? – प्रवीण कुमार, अम्बिकापुर

उत्तर – अपने जीवन के लक्ष्य की श्रेष्ठता, जनहितता की भावना, सरल शब्दों में कहें, तो लोककल्याणकारी भावनाओं आदि को जीवन के लक्ष्य के रूप में स्वीकार करना चाहिए। इसके लिए अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए एक नि:स्वार्थ सेवापरायण लक्ष्य को स्वीकार करना परम आवश्यक होता है। इसलिए हमें अपने जीवन के लिए एक उच्च स्वार्थरहित जनकल्याणकारी लक्ष्य निर्धारित कर लेना चाहिए। लक्ष्य ऐसा होना चाहिए, जो सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय हो तथा उसमें किसी भी प्रकार अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की गन्ध न हो। अपने जीवन की आवश्यकताएँ न्यूनतम हों तथा अपनी योग्यता, शक्ति, सामर्थ्य आदि के अनुसार व्यावहारिक हो।

यदि हमारे जीवन में स्वार्थरहित, जनहितकारी लक्ष्य होगा, तो हमारे मन से सभी राग-द्वेष, चिन्ता आदि की दुर्भावनाएँ अपने आप दूर होने लगेंगी और एक दिन हम पूर्ण रूप से जनकल्याण की भावना से ओतप्रोत होकर सफल जनसेवक का जीवन बिता पाएँगे।

प्रश्न ३३. प्रश्न पूछते समय हम डरते हैं कि हम प्रश्न पूछें या नहीं। हम क्या करें, जिससे हमें डर न लगे और हम अपने प्रश्न पूछ सकें? – ओमप्रकाश, बिलासपुर

उत्तर – आदिकाल से हमारे वरिष्ठ आचार्यों ने प्रश्नोत्तरी पद्धति से ज्ञानोपार्जन किया है। उन्होंने ज्ञान प्राप्ति हेतु इस पद्धति का ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विकास किया, जिससे ज्ञानप्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति सहज भाव से जिज्ञासा व्यक्त कर शिक्षा प्राप्त कर सके। यह हमारी ऋषि परम्परा है, जो आज तक स्कूल, कॉलेजों में भी चली आ रही है। अभी भी छात्र-छात्राएँ कक्षाओं में अपने प्रश्न शिक्षकों से पूछकर अपने संशय का निवारण करते हैं। अत: हमें निर्भय होकर विनम्रता और आत्मीयता से प्रश्न पूछना चाहिए।

प्रश्न. ३४ – सहानुभूति का क्या अर्थ है और हम क्यों सहानुभूति करें? – ललित देवांगन, बिलासपुर

उत्तर – सहानुभूति का यदि हम विश्लेषण करें, तों पाएँगे कि किसी दूसरे व्यक्ति के दुख का अपने स्वयं के दुख के समान ही अनुभव करना। अर्थात् दूसरे के दुख से दुखित होना एवं उस दुख को यथासाध्य दूर करने का प्रयत्न करना। इस भाव और क्रिया को हम सहानुभूति कहते हैं।

यह भाव या क्रिया व्यक्ति के हृदय की विशालता, यथा उदारता पर निर्भर करती है। जिस व्यक्ति का हृदय जितना विशाल एवं शुद्ध होगा, वह उतना ही सहानुभूतिशील होगा। मनुष्य की यह सहानुभूतिशीलता ही उसे तुच्छ या महान बनाती है। केवल स्वार्थकेन्द्रित कर्मों से मनुष्य का जीवन दीर्घकाल तक सुखी एवं शान्त नहीं रह सकता। मनुष्य को जीवनभर सुखी एवं शान्तपूर्ण रहने के लिए जीवन में नि:स्वार्थता एवं सहानुभूति परम आवश्यक है।

आज गाएँ आरती

राजा मंगलवेढ़ेकर

भिन्नता में अभिन्नता की आज गाएँ आरती।
कोटि हस्त कोटि पाद हृदय एक भारती।।
भिन्न वेश भिन्न भाषा भिन्न धर्मरीति।
भिन्न पन्थ भिन्न जाति फिर भी एक संस्कृति।।
भिन्न रंग भिन्न ढंग भिन्न भाव आकृति।
भिन्न छन्द भिन्न बन्ध निराली ये कलाकृति।।
भिन्न राग भिन्न गीत अर्थ एक बहती।
भिन्न शौर्य भिन्न धैर्य घोष, एक भारती।।
भिन्न ताल तार फिर भी मधुर एक झंकृति।
कमल पुष्प खिलता है पंखुड़ियाँ महकती।।

लक्ष्य-प्रतिज्ञ वीर पुरुष के लिए

अंगणवेदी वसुधा कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।
वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य धीरस्य।।

– अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु प्रतिज्ञा किए धीर पुरुष के लिए पृथ्वी आंगन की वेदी के समान, समुद्र नहर के समान, पाताल धरती के समान और सुमेरु पर्वत वल्मीक के समान हो जाता है। (बाणभट्ट प्रणीत हर्षचरित, ७/१/२)

राष्ट्र-निर्माण में गुरुत्रय की भूमिका

विद्योत्तमा वर्मा

सेवानिवृत्त, जिला शिक्षा अधिकारी, जोधपुर, राजस्थान

आजकल समाचार-पत्रों में विश्वविद्यालयों में छात्र-संघ चुनाव, उस सन्दर्भ में होनेवाले करोड़ों के अपव्यय, संघर्ष, हिंसा, शस्त्रास्त्रों का प्रयोग, जन-धन-हानि, दुष्कर्म, भ्रष्टाचार, तस्करी, व्यसनों में डूबा युवा-वर्ग आदि के समाचार प्रकाशित हो रहे हैं। प्रश्न उठता है, इन स्थितियों का दायित्व किस पर है? क्या माता-पिता पर, जो जन्मदाता एवं प्रथम-द्वितीय गुरु हैं? क्या आचार्य, शिक्षक वर्ग पर, जिन्होंने पूर्व-प्राथमिक स्तर से लेकर विश्वविद्यालय तक अध्यापन किया एवं तृतीय गुरु कहलाते हैं? क्या परिवार एवं समाज पर, जिन्होंने बाल्यावस्था से अपना प्रभाव डाला? क्या राजनेताओं पर, जिन्होंने किशोरों तथा युवकों को अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु शस्त्र बना लिया? क्या प्रशासकों एवं शासकों पर, जो इन्हें नियन्त्रित नहीं कर पा रहे हैं? समग्रत: कहा जा सकता है कि क्रमश: उपर्युक्त वर्णित स्थितियों का उत्तरदायित्व इन सब पर है। साथ ही वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर भी है। शिक्षा – विविध प्रकार की आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक, सामाजिक आदि विविध ग्रन्थों का अध्ययन कर, उपाधियाँ अर्जित करना ही नहीं है, वरन् स्वयं को, सृष्टि-रचयिता को, जीवन के लक्ष्य को समझना, ज्ञान को व्यावहारिक बनाना, प्रेम, करुणा, त्याग, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह को समझकर जीवन में क्रिया रूप प्रदान करना, अपने और परिवार के लिये जीविकोपार्जन में सक्षम होना है। प्रत्येक व्यक्ति में जन्म से ही ईश्वर प्रदत्त क्षमताएँ, शक्तियाँ, वैयक्तिक गुण विद्यमान होते हैं, उनका विकास करना, उनमें वांछित व्यवहारगत परिवर्तन लाना 'शिक्षा' है। यह क्रिया करनेवाला 'शिक्षक' है तथा जिस पर यह प्राकट्य होता है, वह शिष्य अथवा शिक्षार्थी, विद्यार्थी है।

सामान्यत: शिक्षा के दो रूप हैं – १. अनौपचारिक शिक्षा जो गर्भ से आजीवन चलती है। २. औपचारिक शिक्षा, जो विद्यालय से विश्वविद्यालय तथा विविध प्रशिक्षण संस्थानों से प्राप्त होती है।

अनौपचारिक शिक्षा

प्रथम गुरु, शिक्षक माता गर्भावस्था तक अपने भाव-विचार, व्यवहार-कार्य, ममता-स्नेह, सहयोग-मार्गदर्शन, समस्या-समाधान आदि के माध्यम से सन्तान में सुसंस्कारों का बीजारोपण करे, उसकी ऐसी मानसिकता का निर्माण करे कि वह अपने मन की हर बात माँ को बता सके, उसके भले-बुरे पक्ष को समझ सके। माँ अपने दूध के साथ, आँचल की छाँव में शिशु को भाषा-ज्ञान आरम्भ करवाती है। ध्यान रहे आरम्भ में मातृभाषा, क्षेत्रीय भाषा का ही बोध कराया जाए, विदेशी भाषा का नहीं। परिवारजन के लिए सम्बन्धानुसार सम्बोधन सिखाए जाए, यथा माँ, माता, पिता, दादा-दादी, भाई-बहन आदि। अन्य भाषाओं का परिचय ६ वर्ष की आयु के पश्चात् दें।

माता ही शिशु को खेल-खेल में छोटे-छोटे कार्य सिखा सकती है, खाने-पीने में, अपनी वस्तुएँ यथास्थान रखने में स्वावलम्बी बना सकती है; अपनी सन्तान में ताऊ, चाचा, मामा, बुआ आदि के बच्चों के प्रति स्नेह, अपनत्व, सहयोग, उदारता आदि के भाव जगा सकती है, अपने खिलौनों से दूसरों को खेलने देकर, खाने-पीने के पदार्थ बाँट कर। माता अपनी सन्तान एवं अन्य बच्चों को साहस, वीरता, दया, त्याग, क्षमा, राष्ट्रभक्ति, परोपकार आदि की पौराणिक, ऐतिहासिक कहानियाँ, बोध-कथाएँ, कविताएँ आदि सुनाकर उसे भारतीय संस्कृति से जोड़ सकती है, सद्‌गुणों का विकास कर सकती है।

द्वितीय गुरु, शिक्षक पिता सन्तान के शारीरिक विकास का दायित्व वहन करते हुए उसे प्रात:कालीन भ्रमण पर ले जाएँ, योगासन, प्राणायाम, व्यायाम खेलकूद आदि सिखाएँ, आध्यात्मिक विकास हेतु सन्ध्या-वन्दन, पूजा-आरती में अपने साथ रखें, धार्मिक-सामाजिक कार्यक्रमों में अपने साथ ले जाएँ, घर से बाहर समाज में तथा विद्यालय में उसके मित्रों के आचार-व्यवहार, पारिवारिक संस्कृति का पता लगाएँ, आवश्यकतानुसार सबका मार्गदर्शन करें, (पुत्री के सन्दर्भ में यह कार्य माता करे); पिता, सन्तान को विद्यालय से मिले गृहकार्य पूर्ण करवाएँ, शिक्षक वर्ग से सम्पर्क कर विद्यालय में उसकी स्थिति की जानकारी लें, जिससे उसके चरित्र अथवा

अध्ययन के सन्दर्भ में कोई समस्या हो तो तुरन्त दूर हो सकती है। पिता जिस व्यवसाय से जुड़े हैं, उससे सन्तान का परिचय अवश्य होना चाहिए, चाहे वह उस व्यवसाय को अपनाए या न अपनाए। पिता अपनी सन्तान को पारिवारिक सामाजिक दायित्वों के निर्वहन के लिए जागरुक करें।

परिवारजन : प्राय: दादा-दादी, नाना-नानी आदि वयोवृद्ध लोग बच्चे के प्रति अत्यधिक लाड़-प्यार, मोहवश, उनका अनुचित पक्ष ले लेते हैं, जिससे एक ओर वे माता-पिता आदि की अवज्ञा करना सीखते हैं, दूसरी और उनका महत्त्व नहीं समझते और कामचोर बन जाते हैं। अत: वयोवृद्धों को इस स्थिति से बचते हुए, बच्चों को, माता-पिता की आज्ञा का पालन करने हेतु प्रेरित करना चाहिए। माता-पिता यदि व्यस्त हैं, तो बच्चों को सुसंस्कारित करने का दायित्व भी परिवार के लोग पूर्ण कर सकते हैं। दूसरी ओर माता-पिता अपने आचरण द्वारा सन्तान में वयोवृद्धों का सम्मान तथा सेवा करने के संस्कार प्रदान करें।

औपचारिक शिक्षा

तृतीय गुरु - आचार्य, शिक्षक, शिक्षिका – इस सन्दर्भ में विचार करने से पूर्व 'गुरु' की परिभाषा स्पष्ट करनी होगी।

गुरु – जो गरिमा युक्त हो, जो अज्ञानान्धकार से ज्ञान-प्रकाश की ओर ले जाए, जो संयमित हो, सतत अध्यनशील हो, त्यागी हो, तपस्वी हो, समभावी हो, वात्सल्य युक्त हो, जो शिष्य के सर्वांगीण विकास का दायित्व वहन करने की क्षमता रखता हो। ऐसे गुरु सतयुग, त्रैतायुग, द्वापरयुग में अत्यधिक संख्या में थे। परन्तु वर्तमान युग में अत्यल्प संख्या में हैं। वस्तुत: विद्यार्थी उन गुरु का सम्मान करते हैं, कक्षा में जाते हैं; अनुशासन मानते हैं, जिनमें उल्लिखित गुण हों।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार गुरु में तीन गुण अनिवार्य रूप से होने चाहिए। **(क)** गुरु अपने विषय के मर्मज्ञ हों, सतत अध्ययनशील रहकर अपने ज्ञान को अद्यतन बनाए रखें। **(ख)** गुरु निष्पाप हों अर्थात् उनके भाव, वचन और कर्म तीनों में एकरूपता हो, किसी के प्रति पक्षपात न हो, विचारों में पवित्रता एवं सत्यता हो। **(ग)** गुरु में उद्देश्य की शुद्धता हो। वह अर्थार्जन अथवा कीर्तिलाभ के लिए नहीं, वरन् शिष्य के प्रति शुद्ध प्रेम से परिचालित होकर अध्यापन करते हों।

इसी प्रकार स्वामीजी ने शिष्य के लिए भी तीन अनिवार्य गुणों का उल्लेख किया है। **(अ) पवित्रता** – शिष्य में मन और भावों की पवित्रता हो अर्थात् किसी के प्रति मन में ईर्ष्या-द्वेष, मलिनता, क्रोध, अहंकार आदि विकार न हों। **(आ) यथार्थ ज्ञान-पिपासा** – जब तक विद्यार्थी का मन विषय-वासना-आसक्ति आदि से मुक्त होकर, सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के लिए आतुर होकर श्रद्धापूर्वक गुरु की शरण में नहीं जाएगा, तब तक उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होगा। **(इ) धैर्य** – इस गुण के अभाव में विद्यार्थी, न तो गुरु के वचनों को भली प्रकार सुन सकेगा और न ही समझ सकेगा। ज्ञान, शिक्षा की प्राप्ति सतत संघर्ष से होती है और इस स्थिति में धैर्य रखना अनिवार्य है।

इस प्रकार गुरु और शिष्यों में स्वामीजी के बताए हुए गुणों का संचार होने पर ही वर्तमान भयंकर स्थिति से मुक्ति मिल सकती है और यह सुंस्कारित अनुशासित माता-पिता के द्वारा ही सम्भव है, जो सद्गुणी सन्तानों को जन्म देकर उनके गुणों का विकास करें।

प्रशासन एवं शासन

राज्य की किसी भी शिक्षण संस्था में लड़ाई-झगड़ा, तोड़फोड़, अग्निकाण्ड, दुष्कर्म, हत्या आदि कुकृत्य होते हैं, तो सर्वप्रथम उस संस्था के प्रशासन का दायित्व है, इसे नियन्त्रित करने, जाँच करने, दोषियों को दण्डित करने का। तत्पश्चात् पुलिस, जिलाधीश एवं अन्त में राज्य शासन का दायित्व है। पुन: प्रश्न उठता है, शासन के हस्तक्षेप की आवश्यकता क्यों? शिक्षण संस्था का प्रशासन क्यों नहीं?

उत्तर बड़ा भयावह है – न माता-पिता अनुशासित हैं, न सन्तानें, न गुरुजन संयमी हैं, न शिष्यगण। राजनीति का अवांछित प्रवेश पवित्र शिक्षालयों में हो रहा है। सत्ता में विराजमान, शिक्षा से जुड़े मन्त्री, विदेशों का आंशिक अनुकरण कर, बिना भारत की स्थिति को समझे नियम बना देते हैं – आठवीं कक्षा तक कोई विद्यार्थी अनुत्तीर्ण नहीं किया जाएगा। इससे विदेशी नियम के दूसरे अंश की

अनदेखी कर दी कि प्राथमिकी विद्यालयों में सर्वाधिक योग्य शिक्षकों की नियुक्ति की जाएगी, जो भाषा, गणित, विज्ञान, पर्यावरण, अध्ययन, शारीरिक, नैतिक विकास में विद्यार्थियों की नींव सुदृढ़ बना सकते हैं, जबकि वर्तमान समय में भारत के राजकीय प्राथमिक विद्यालयों में नियुक्त अनेक शिक्षक ऐसे हैं, जो हिन्दी भाषा का एक वाक्य भी शुद्ध नहीं बोल सकते, हिन्दी वर्णमाला क्रमबद्ध एवं शुद्ध नहीं लिख सकते, अवकाश के लिए एक प्रार्थना पत्र शुद्ध नहीं लिख सकते, अनेक वर्णों एवं संयुक्ताक्षरों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। गणित में दशमलव की संख्याओं का योग लगाने के लिए एक के नीचे एक शुद्ध रूप में नहीं रख सकते, विज्ञान के पाठों के प्रयोग नहीं करा सकते, फिर उनके विद्यार्थियों की नींव सुदृढ़ कैसे होगी? तदुपरान्त वे भी निर्भीक हैं, निश्चिन्त हैं, क्योंकि उनका वेतन कोई काट नहीं सकता, उन्हें सेवाच्युत कोई नहीं कर सकता, उनके विद्यार्थियों की कक्षोन्नति को कोई रोक नहीं सकता । अब सोच लीजिए, परिणाम क्या होगा? विद्यार्थियों का भविष्य क्या होगा? माध्यमिक एवं उच्च माध्यमिक कक्षाओं के शिक्षक वर्ग की क्या स्थिति होगी? उनका बोर्ड का परिणाम कैसा रहा होगा? क्या यह स्थित स्पष्ट नहीं कर देती कि निजी शिक्षण संस्थाओं में विद्यार्थियों की संख्या अधिक क्यों है?

सारांशतः कहा जा सकता है कि माता-पिता एवं आचार्यगण पहले स्वयं का शोधन करें, अपनी दुर्बलताओं को दूर कर सशक्त बनें तथा दृढ़ संकल्पपूर्वक, सुसंस्कारी युवा-शक्ति के निर्माण में जुट जाएँ, तो शीघ्र ही विश्व शिरोमणि भारत-निर्माण का स्वामीजी का स्वप्न साकार हो सकेगा और पुनः यह कथन गूँज उठेगा – **मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव**।' ○○○

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर

२८४. संत मिलन को जाइए, तज सारा अभिमान

हरिकेश नामक एक व्यक्ति की पत्नी को गर्भावस्था में आम खाने की इच्छा हुई। उसने पति से आम लाने को कहा। ठण्ड के दिन होने के कारण आम मिलना सम्भव न था। हरिकेश को जब पता चला कि राजा श्रेणिक के बगीचे में एक आम का पेड़ है और वह अब भी फल देता है, तो वह उस पेड़ का एक आम रोज पत्नी को देने लगा। माली को जब पेड़ पर कम आम दिखाई देने लगे, तो उसने यह बात राजा के ध्यान में लाई। राजा रात को अन्धेरे में एक जगह छिपकर खड़ा हो गया। उसने जब हरिकेश को आम तोड़ते देखा, तो वहाँ पहुँचकर उसने हरिकेश को पकड़ लिया। उसने प्रश्न किया, 'तुम आम क्यों चुराते हो और इतनी ऊँचाई वाले पेड़ से कैसे चुरा लेते हो।'' हरिकेश ने डरते हुए जवाब दिया, ''मैं आम चुराता नहीं तोड़ता हूँ।'' राजा ने कहा ''मेरी अनुमति के बिना आम तोड़ना चोरी ही हुई।'' हरिकेश ने सकुचाते हुए बताया कि गर्भवती पत्नी की साध को पूरा करने के लिए आम तोड़ने के लिये वह विवश है। उसने कहा, 'मुझे दो तरह की विद्याएँ आती हैं। एक तो जिस डाली पर आम लगा है, उसे झुकाना और दूसरी उसे तोड़कर झोली में डालना।'' राजा ने पूछा, 'क्या तुम मुझे इन विद्याओं को सिखाओगे?'' हरिकेश राजी हो गया।

दूसरे दिन ही हरिकेश ने राजा को दोनों विद्याएँ सिखा दीं। राजा जब विद्याओं का प्रयोग करने लगे, तो डाली झुकी नहीं। राजा द्वारा इसका कारण पूछने पर हरिकेश ने बताया, ''राजन् क्षमा करें, विद्या सिखाने वाला गुरु होता है और शिक्षा ग्रहण करने वाला शिष्य। कोई भी विद्या सीखते समय मनुष्य को अहं भाव त्याग कर विनम्र बनना पड़ता है। आप स्वयं को मुझसे उच्च मानकर विद्या सीख रहे थे, इसलिये डाली को झुका नहीं सके।'' राजा को भूल मालूम हो गई। उसने हरिकेश को आदर के साथ कुर्सी पर बिठाया और स्वयं नीचे बैठकर प्रयोग करने लगा। अगले ही क्षण वह आम तोड़ने में सफल रहा।

गुरु सन्त होता है। किसी सन्त से मिलने के लिए जाने पर मनुष्य को अपना बड़प्पन त्याग देना चाहिए। अपने को एक सामान्य आदमी मानकर उसे आदर और नम्रता से पेश आना चाहिये। पानी में प्रचण्ड शक्ति होती है। वह जब बहने लगता है, तो स्वाभाविक रूप में बहता है। पहाड़ से नीचे गिरने की स्थिति में अपना पतन होने वाला है इससे वह विचलित नहीं होता, हीनता का अनुभव नहीं करता और अपने गुणधर्म से विमुख नहीं होता। मनुष्य को भी इसी प्रकार सन्त मिलन के समय या गुरु से दीक्षा लेते समय अपने को ऊँचा न मानकर विनम्र होना चाहिये। ○○○

एक भारतीय संन्यासी का चीन में परिव्रजन

स्वामी दुर्गानन्द

कुलसचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ

(गतांक से आगे)

बस और बस स्टैण्ड

बस स्टैंड पर अनेकों सुविधाएँ उपलब्ध हैं। आरामदायक विश्राम गृह, सुविधायुक्त टिकट खिड़की, खुला स्थान, स्वच्छ अल्पाहार गृह, दुकानें, ए.टी.एम सुविधावाले बैंक, और यन्त्रचालित सीढ़ियाँ जैसी बहुत सी सुविधाएँ हैं। बस में जाने के पहले एक बोर्डिंग गेट रहता है। यहाँ की बसें पूर्णतया लक्जरी तरह की रहती हैं और नि:शुल्क खाद्य-पदार्थ की सेवा भी रहती है।

चीन में लगभग सभी बसें एक ही समान बनी होती हैं। दो-दो अथवा तीन-तीन की सीटें, अधिकांश बसें वातानुकूलित, स्वचालित दरवाजे, rear-mount engine, gearless drive, power steering, low floor chasis इत्यादि तकनीकी से संयुक्त होती हैं। अधिकतर बसों में चालक के पास सी.सी.टी.वी कैमरें रहते हैं, जिसमें वह यात्री निकास-द्वार को देख सकता है। बसों में कंडक्टर नहीं रहता। यात्री बस-चालक के पास के द्वार से प्रवेश करता है, एक बॉक्स में बस-किराया डालता है, कहीं भी जाने के लिए लगभग एक ही किराया रहता है ! आजकल अधिकांश लोग प्लास्टिक कॉर्ड का उपयोग करते हैं। इस कॉर्ड को मशीन पर रखा जाता है और उसमें से आपका बस-किराया अपने-आप कट जाता है। बाहर जाने के लिए बस के बीच एक बड़ा दरवाजा रहता है। कुछ सिटी बसें और कुछ दूर जानेवाली बसें दो मंजिल की होती हैं।

चीन के २० शहरों में (Bus Rapid Transit) BRT की व्यवस्था है। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय मानक है, जिसके अन्तर्गत बसों के लिए अधिकांश अलग मार्ग रहता है। स्टेशनों पर बस के सतह की ऊँचाई के समान प्लेटफॉर्म की ऊँचाई रहती है और इन स्टेशनों पर टिकिट लेने की सुविधा भी रहती है। यातायात मार्ग में भीड़ होने पर इन बसों को आगे जाने के लिए प्राथमिकता दी जाती है। चीन में यह BRT व्यवस्था अत्याधुनिक है।

सड़कें

चीन ने अपनी आर्थिक नीति योजनाबद्ध रूप से बनाई है। इसके अन्तर्गत यहाँ के रास्ते विशाल, चौड़े और सीधे हैं। कई रास्ते तो खुले और खाली तक रहते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि शहर में वाहनों के लिए रास्ते २+२ अथवा ३+३ लेन होने के बावजूद भी दुपहिया वाहनों के लिए दोनों ओर पृथक् रास्ते हैं। प्रत्येक दुपहिये रास्ते की चौड़ाई लगभग दो कार जितनी है और मुख्य मार्ग से एक रेखा द्वारा विभाजित हैं। इसके अलावा एक विशाल पैदल रास्ता भी रहता है, जहाँ पर लोग अपने वाहनों को खड़ा (parking) कर सकते हैं और लोगों के चलने के लिए भी पर्याप्त स्थान रहता है। शहरी रास्तों में ध्यान देने योग्य बात यह है कि बड़ी सड़कों की प्रत्येक क्रासिंग पर कोई भवन नहीं होता। इससे मोड़ों पर वाहन स्पष्ट दिखते हैं, साथ ही पैदल चलने वालों को भी पर्याप्त जगह मिल जाती है।

फुटपाथ पत्थरों की टाइलों द्वारा निर्मित हैं। इनकी रचना इस तरह की गई है कि पैदल चलने वालों के पैर की पकड़ अच्छी तरह बनी रहे। इनकी सजावट अत्याधुनिक है। कहीं-कहीं यही रचना सीमेन्ट के द्वारा भी की गई है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल शहरी रास्ते ही नहीं अपितु राजमार्गों पर भी दोनों ओर एवं विभाजक पर

क्यारियाँ लगी रहती हैं। कहीं-कहीं तो दूर तक फूलों को देखा जा सकता है। इन पौधों की नियमित कटाई, छटाई, पानी डालना और साफ-सुथरा रखना और वह भी इतने बड़े स्तर पर करना, यह सचमुच में एक आश्चर्य का विषय है।

साधारण अवलोकन

यह देश अत्यन्त स्वच्छ है, इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। यहाँ एक वस्तु आसानी से दृष्टिगोचर होती है कि गली-सड़क, सार्वजनिक स्थान, यहाँ तक कि गुफाओं और बसों में भी आपको सर्वत्र कूड़ादान दिखाई देंगे। इसलिए कोई भी कचरा इधर-उधर नहीं फेंकता है। लोग भी बहुत अनुशासित हैं। कचरे के डब्बे भी आधुनिक हैं। इसके अन्दर garbage bags रहते हैं और इसमें दो भाग होते हैं, एक के ऊपर recyclable और दूसरे के ऊपर non recyclable लिखा रहता है। इसके अलावा सफाई करनेवाले कर्मचारी भी रहते हैं। इनके पास विद्युतचालित दुपहिया मशीन रहती है, जिसके द्वारा साफ-सफाई की जाती है। नगरपालिका के ये कर्मचारीगण निरन्तर कचरे उठाने आदि स्वच्छता कार्य में लगे रहते हैं।

व्यक्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता शौचालय की रहती है। अपनी यात्रा के दौरान लेखक ने देखा कि अनेक स्थानों पर बहुत से शौचालयों की व्यवस्था है। जिस तरह गलियों के नाम के साइन-बोर्ड रहते हैं, वैसे ही समीप के सार्वजनिक शौचालय के भी साइन-बोर्ड लगे रहते हैं। यहाँ के शौचालय बहुत ही साफ-सुथरे रहते हैं, इसका श्रेय यहाँ की अनुशासन-प्रणाली और सार्वजनिक जागरुकता, आधुनिक तकनीक और प्रशासन को जाता है।

चीन के डाक और बैंक कार्यालय पाश्चात्य देशों की तरह दिखने में सुन्दर, स्वच्छ और तकनीकी से सुसज्जित हैं। यहाँ की प्रशासनिक सेवाएँ one stop clearnce अर्थात एक खिड़की वाली हैं। आपको किसी कार्य के लिए एक खिड़की से दूसरी खिड़की पर जाने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

चीन-विश्वविद्यालयों का परिसर बहुत बड़ा होता है। यहाँ के भोजनकक्ष सचमुच में देखने जैसे हैं। यन्त्रचालित सीढ़ी आपको सड़क से सीधे पहली मंजिल तक ले जाएगी और आप एक बृहत् भवन में पहुँचेंगे, जहाँ अनेक भोजन-मेज लगी रहती हैं। इस भवन के एक ओर से भोजन सामग्री का वितरण किया जाता है। आधुनिक रसोई-उपकरण, ऊँची टोपी, दस्ताने, गणवेशधारी कर्मचारीगण हाथ में चिमटे आदि के द्वारा भोजन सामग्रियों को परोसते हैं । विद्यार्थी प्लास्टिक कार्ड के द्वारा भोजन का मूल्य जमा करते हैं। अमेरिकन-विश्वविद्यालयों की तरह विद्यार्थियों को भोजन सामग्री एक ट्रे में परोसी जाती है और भोजन समाप्त हो जाने पर एक निश्चित स्थान पर ट्रे जमा कर दी जाती है। कुछ खाद्य-पदार्थ को गरमा-गरम परोसने के लिए एक छोटे से वेक्स स्टोव में लाया जाता है।

एक आश्चर्य दृश्य देखने को मिला कि, कुछ क्षेत्रों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के लिए सार्वजनिक साइकिलों की भी व्यवस्था होती है। आप प्लास्टिक कार्ड द्वारा पैसे जमा कर अथवा मशीन में सिक्के डालकर स्टैण्ड से साइकिल उपयोग कर सकते हैं। गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के बाद साइकिल को आप इसी तरह के अन्य स्टैंड पर छोड़ सकते हैं।

पाश्चात्य देशों की तरह चीन में भी चौबीसो घण्टें दुकानें खुली रहती हैं। इन दुकानों में दैनन्दिन व्यवहार में उपयोग की जाने वाली वस्तुएँ, प्रसाधन-सामग्री, दवाएँ, समाचार-पत्र, पाठ्य-सामग्री, यहाँ तक कि वाहनों के पुर्जे भी मिल जाते हैं। ये दुकानें छोटी और पेट्रोल टंकी के पास होती हैं।

यहाँ के मॉल और बाजार इतने भव्य हैं कि इनमें से कुछ तो पाश्चात्य देशों तक को पीछे छोड़ देते हैं। इनके अन्दर यन्त्रचालित सीढ़ियाँ, रेस्टोरेन्ट्स, उद्यान, मनोरंजन-गृह, यहाँ तक कि skating rink भी रहती हैं।

यहाँ शहर के कुछ भागों में रोड-क्रॉसिंग पर भूमिगत दुकानें रहती हैं। इनके द्वारा आप सड़क पार भी कर सकते हैं। सड़क पर प्रकाश बल्ब की रचना सामान्य न

होकर विशेष सौन्दर्यात्मक होती है।

चीनी शहरों का सबसे आह्लाददायक पक्ष है, यहाँ के

उद्यान-गृह और सार्वजनिक स्थान। दिनभर के परिश्रम के बाद व्यक्ति इन स्थानों पर आकर विश्राम पा सकता है। ये बहुत ही कलात्मक ढंग से तैयार किए गए होते हैं और इनके निर्माण में बड़ी सूक्ष्म बातों का ध्यान रखा गया है। गोल पत्थरों द्वारा निर्मित स्वच्छन्द घुमावदार उद्यान-पथ, सौन्दर्यपूर्ण रखी हुई सीमेन्ट की ईंटें, फव्वारे, छोटे जलप्रपात, छोटी नदियाँ और उस पर बने हुए छोटे पुल, छोटी कृत्रिम पहाड़ियाँ, झाड़ियों का कुंज, केक्टस उद्यान, सरोवर और झील के चारो ओर सजाए गए छोटे शिलाखण्ड, पानी पर चलने के लिए पत्थर, लम्बे काष्ठ-निर्मित रास्ते और अन्य आनन्ददायक वस्तुएँ उद्यान-गृहों की विशेषताएँ हैं। सरोवर के ऊपर उद्यानपथ सीधे न होकर टेढ़े-मेढ़े होते हैं। झूलते हुए पुल, शिलाखण्डों के बीच बनी हुई कृत्रिम सुरंगें भी देखने को मिलती हैं। समग्र स्थान फूलों से हरा-भरा रहता है। पौधों की अच्छी कटाई-छटाई की जाती है और ठीक से पानी दिया जाता है। प्रत्येक झील, सरोवर, नदी और छोट-छोटे सोते कलात्मक ढंग से बने होते हैं।

चीन के धार्मिक स्थल

इस लेख के प्रथम भाग में हमने चीन के संरचनात्मक प्रगति जिसमें शीघ्रगामी ट्रेन, बस, रेलवे, बस-स्टेशन, दुकानें, उद्यानगृह और अन्य व्यवस्थाओं की चर्चा की थी। लेख के इस दूसरे भाग में हम चीन के धार्मिक स्थलों का विवेचन करेंगे।

चीन में मुख्य तीन धर्म हैं – बौद्ध, ताओ, और कन्फ्युशियस धर्म। इन तीनो धर्मों में थोड़ा-बहुत साम्य है। संयोगवश इन तीनों धर्मों का प्रादुर्भाव ईसा पूर्व छठी शताब्दी में हुआ। दार्शनिक कॉर्ल जेस्पर के अनुसार यह Axial age (800 to 200 BC), अक्षीय युग का मध्य भाग है, जिसमें ईरान, भारत, चीन और पाश्चात्य जगत में धार्मिक जागृति की लहर उठी थी।

कन्फ्युशियस धर्म

कन्फ्युशियस धर्म वस्तुत: धर्म नहीं, अपितु एक दर्शन है। कन्फ्युशियस एक राजनेता और दार्शनिक थे, उन्हें चीनी भाषा में Kongzi अथवा Kongfuzi भी कहा जाता है। उनका जन्म चीन में चल रहे 'युद्धरत राज्य काल' - ("Warring States Era", c. 475-221 BC) के पहले हुआ था। इस समय शासनरत झोऊ वंश की सत्ता की पकड़ ढीली हो रही थी और बहुत से जागीरदार आधिपत्य प्राप्त करने की होड़ में युद्ध कर रहे थे। इसके साथ साधारण जनता में नैतिक पतन का प्रारम्भ भी दिख रहा था। कन्फ्युशियस जी ने प्रथम मजिस्ट्रेट के रूप में कार्य किया, तदनन्तर लू राजा के अधीनस्थ न्यायमन्त्री हुए। प्रतिभाशाली विचारक अपने तथा सत्तारूढ़ राजा के विचारों में असमानता देखकर हताश हुए। वे राज्य छोड़कर अन्य सामन्ती राज्य में अपनी सेवा प्रदान करने गए, किन्तु उन्हें असफलता मिली और अपने घर वापस लौटना पड़ा। इसके बावजूद भी उनके अनुयाइयों की संख्या बढ़ती गई और उनके जीवनकाल में ही ३००० तक पहुँची।

कन्फ्युशियस की विचार-प्रणाली नैतिक और सामाजिक-राजनैतिक है। मानवता, न्याय, ज्ञान, एकता, धार्मिकता, सच्चाई, विनम्रता और सौजन्यता इसके मूलभूत अंग हैं। यह दर्शन चीनी परम्परागत स्वामिभक्ति, बड़ों का आदर, पूर्वजों की पूजा आदि के आधार पर है। कन्फ्युशियस के कुछ प्रसिद्ध उपदेश निम्नलिखित हैं –

• दूसरों के प्रति ऐसा व्यवहार न करें, जिसे हम स्वयं न चाहते हों।

• तीन पद्धतियों से हम ज्ञानार्जन करते हैं – उच्च चिन्तन, सहजतापूर्वक अनुकरण और कटु अनुभव।

• मैं सुनता हूँ और भूल जाता हूँ, मैं देखता हूँ और याद रखता हूँ और मैं करता हूँ और समझता हूँ।''

हॅन राजवंश के समय कन्फ्युशियस के विचारों को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। यद्यपि बाद में वे इससे वंचित हो गए थे। यदा-कदा ताओ धर्म को भी राज्याश्रय प्राप्त होता रहा।

कन्फ्युशियस-मन्दिर में कन्फ्युशियस की पूजा की जाती है और उनके धर्मग्रन्थ, परम्परा और दर्शन को सुरक्षित रखा जाता है। कन्फ्युशियस-मन्दिर परम्परानुसार प्रशासनिक सेवाओं के परीक्षा केन्द्र होते हैं, क्योंकि प्रशासन कैसा होना चाहिए, इस बारे में कन्फ्युशियस ने निर्देश दिए थे। उनके मन्दिर चीन में सर्वत्र दिखाई देते हैं, इनमें से कुछ के विशाल परिसर हैं। कुछ विशाल भवन के रूप में हैं, जिनमें कन्फ्युशियस-धर्म और चीनी परम्परा के ऐतिहासिक स्थलों का समावेश है। स्वाभाविक है कि इन मन्दिरों में मोक्ष और ईश्वर सम्बन्धी बातों का अभाव रहता है, क्योंकि कन्फ्युशियस की विचारधारा परलोक-परक न होकर इहलोक-परक थी। कन्फ्युशियस-धर्म में संन्यास अथवा पौरोहित्य नहीं होता है। मन्दिरों की

देखभाल उनके दृढ़ अनुयाइयों और सरकार के द्वारा होती है।

कन्फ्युशियस का प्रसिद्ध मन्दिर उनके जन्म-स्थान कुफु शहर में है। यह राजधानी बीजिंग से ५०० कि.मी. दक्षिण-पूर्व पर स्थित है। इस मन्दिर का परिसर १.३ कि.मी. लम्बा है और उसमें ९ प्रांगण, ४६६ कमरे और ५४ महाद्वार हैं।

नान्जिंग शहर का फ्युजीमिओ कन्फ्युशियस मन्दिर का क्षेत्रफल एक वर्ग कि.मी का है। यह अनेक ऐतिहासिक स्थल, परम्परा और प्रशासन से सम्बन्धित है। इसके अन्दर का कन्फ्युशियस मन्दिर का क्षेत्रफल १४ X २० मीटर मात्र है।

ताओ धर्म

ताओ धर्म के प्रवर्तक लाओत्से का जीवन काल ईसा पूर्व छठी से पाँचवी शताब्दी का था। वे झोऊ राजवंश के राजकार्यालय में सरकारी पुराभिलेखागार के संरक्षक थे। प्रचलित आख्यायिका के अनुसार वे राज्य में चल रहे नैतिक अध:पतन से ऊब गए थे और एक भैंस के ऊपर सवार होकर राज्य की पश्चिम सीमा पर एक तपस्वी के रूप में रहने चले गए। द्वार पर द्वारपाल ने उन्हें ज्ञानी समझकर उनसे अपने विचार लिपिबद्ध करने की विनती की। लाओत्से ने उनका कहना स्वीकार किया। वे द्वारपाल उनके शिष्य बन गए और दोनों एकान्तवास के लिए अन्यत्र चले गए, जिसका किसी को भी बाद में पता नहीं लगा।

यही रचना परवर्तीकाल में धर्मग्रन्थ 'ताओ ते चिंग' के रूप में प्रसिद्ध हुई। यह ८१ छोटे अध्यायों में ५००० चीनी शब्दों में है। इसकी मुख्य विषय वस्तु है अवर्णनीय ताओ तत्त्व। हमारे शास्त्रों में वर्णित सर्वव्यापी और अतीन्द्रिय तथा सचल और अचल ब्रह्म के रूप में ताओ की समानता है। उदाहरणार्थ उनके उपदेश हैं –

"जिस ताओ का वर्णन किया जा सके, वह शाश्वत ताओ नहीं है। जिस नाम का उच्चारण किया जा सके, वह शाश्वत नाम नहीं है।"

"गूढ़ तत्त्व और सत्य का उद्गम, एक ही स्रोत से है। यह स्रोत अन्धकार है। अन्धकार से अन्धकार उत्पन्न हुआ है। यही सर्वबोध का प्रारम्भ है।"

ऊपर और नीचे लिखित इन पक्तियों का भाव हमें नासदीय सूक्त में देखने को मिलता है।

"ताओ एक रिक्त पात्र की तरह है। इसे रिक्त भी नहीं किया जा सकता और पूर्ण भी नहीं किया जा सकता। अनन्त गहराई से युक्त यह समूचे प्रपंच का उद्गम है। यह प्रच्छन्न होते हुए भी वर्तमान है। मैं नहीं जानता कि इसका जन्म कैसे हुआ। ईश्वर की अवधारणा से भी यह पुराना है।"

"सृष्टि के आरम्भ के पहले कुछ अपृथक् फिर भी पूर्ण तत्त्व था। वह एकाकी और रिक्त तथा निर्जन और अपरिवर्तनीय रहता है। वह सदा वर्तमान और सुरक्षित है। उसे सृष्टि की जननी भी कहा जा सकता है। क्योंकि मैं इसे नहीं जानता हूँ, इसलिए इसे ताओ कहता हूँ। यदि नाम देने के लिए बाध्य होना ही पड़े, तो मैं इसे 'बृहत्' कहूँगा।" (वेदान्त में वर्णित ब्रह्म शब्द बृह धातु से बनता है, जिसका अर्थ बृहत्, विशाल इत्यादि होता है।)

"ताओ नामरहित और अपरिवर्तनीय है। यद्यपि यह छोटा प्रतीत होता है, किन्तु सम्पूर्ण विश्व भी इसे अपने में समाहित नहीं कर सकता।" **(क्रमशः)**

श्रीकृष्णावतार : एक वैज्ञानिक विश्लेषण

मुरलीधर वैष्णव, जोधपुर

भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद का मूल अभिप्राय यही है कि समस्त ब्रह्माण्ड में चराचर अर्थात् जड़ हो या चेतन समस्त प्रकृति किसी परम चैतन्य तत्त्व की अभिव्यक्ति है। आज वैज्ञानिक 'गॉड एलिमेंट' के रूप में इस बात पर सहमत हो गए हैं कि कोई चैतन्य कारण तत्त्व अवश्य है, जिसके फलस्वरूप समस्त प्रकृति स्पन्दित है।

ईश्वरीय सत्ता नास्तिकों की राय से प्रभावित नहीं होती। इसके विपरीत ईश्वर का समता भाव इतना दिव्य एवं प्रबल है कि नास्तिक तो क्या, ईश्वर अपने शत्रु के प्रति भी सदा कल्याणकारी भावना रखते हैं। फिर यदि कोई नास्तिक जीवन में शुचिता अपनाकर अपना कर्मक्षेत्र शुद्ध रखता है, तो उसके कर्मयोग के कारण ईश्वर उसे भी शुभ फल ही प्रदान करते हैं।

अवतार सम्बन्धी यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब ईश्वर सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान हैं, तब वे अपने संकल्प मात्र से ही पापियों का नाश क्यों नहीं कर देते? अवतार लेने की कहाँ आवश्यकता है? लेकिन बात इतनी सरल नहीं है। भगवान के अवतरण में बहुत से कारण हो सकते हैं, जिन्हें वे स्वयं ही जानते हैं। फिर भी तर्कसंगत यही लगता है कि वे सगुण रूप में अवतरित होकर अपने आचरण और लीला से जीवन के उच्च आदर्श प्रस्तुत कर जाते हैं। ऐसा कर, वे यह सन्देश देना चाहते हैं कि हम चाहें, तो ऐसे जीवन मूल्यों के साथ पुरुषार्थ कर मुक्ति पा सकते हैं।

कृष्णावतार के रहस्य को किसी तार्किक कसौटी पर परखना मुझ जैसे उनके दासानुदास के लिए धृष्टता ही होगी। 'कृष्णस्तु भगवान स्वयम् (श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान परब्रह्म परमेश्वर हैं)। बुद्धि के चार ऐश्वर रूप बतलाए गए हैं, जिनके सन्दर्भ एवं प्रकाश में हम किसी अवतार के रहस्योद्घाटन का प्रयास कर सकते हैं और वे हैं – धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य एवं वैराग्य। सोलह कलाओं के पूर्णावतार श्रीकृष्ण में उक्त चारों रूपों की पूर्णता समाहित है।

धर्म की स्थापना एवं अधर्म के नाश के लिए ही तो कृष्णावतार हुआ। उनके अनुसार धर्म की स्थापना और अधर्म के नाश के लिए साध्य एवं साधन दोनों का पवित्र होना आवश्यक नहीं है। केवल साध्य (धर्म) प्राप्ति ही अन्तिम उद्देश्य है। इसी कारण से उन्होंने जरासन्ध, कर्ण, कालयवन, द्रोणाचार्य, भीष्म और दुर्योधन के वध के लिए छल-बल के प्रयोग को उचित एवं धर्मप्रद बतलाया। जब भीष्म के विरुद्ध रथ-चक्र लेकर कृष्ण अपनी प्रतिज्ञा तक तोड़ते हुए बोले कि तुम धार्मिक होते हुए भी द्रोपदी के चीर-हरण को चुपचाप देखते रहे और अब इस पापी दुर्योधन के लिए युद्ध कर रहे हो? तब भीष्म ने उत्तर दिया कि 'राजा परम देवतं' (राजा देवता से भी बड़ा है, उसकी आज्ञा मानना चाहिए।) इस पर कृष्ण ने जो कहा, वह आज के सन्दर्भ में भी सार्थक है। उन्होंने कहा कि दुष्ट राजा कभी माननीय नहीं होता। इसलिए उन्होंने अपने सगे मामा राजा कंस का वध किया। यह भी स्पष्ट है कि जो राजा अन्धा होकर दुष्टता और भ्रष्टता को रोकता नहीं है और सिंहासन के मोहवश उनकी अनदेखी करता है, तब उसका विनाश भी वैसे ही होता है, जैसे धृतराष्ट्र का हुआ। नीति का उपयोग जहाँ धर्म की रक्षा में हुआ, वहाँ नीति को प्रधानता दी कृष्ण ने।

कृष्णावतार में धर्मपालन के कुछ अद्भुत प्रयोग भी स्पष्ट दिखाई देते हैं। महाभारत के कर्णपर्व में युधिष्ठिर द्वारा अर्जुन के गाण्डीव धनुष के निन्दा करने पर अपनी सत्य प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए जब अर्जुन ने युधिष्ठिर पर शस्त्र चलाना चाहा, तब श्रीकृष्ण ने उक्त सत्य प्रतिज्ञा के निर्वाह का यह उपाय बतलाया कि तुम शस्त्र चलाने के बजाय युधिष्ठिर की निन्दा कर लो, क्योंकि बड़ों की निन्दा करना उनके वध करने के समान है। इसी प्रकार जब अश्वत्थामा (पाण्डव के गुरुपुत्र और ब्राह्मण) का अर्जुन, भीम आदि जो अश्वत्थामा का वध करना चाहते थे, तब उसके मस्तिष्क से मणि निकलवाकर उसे श्रीहीन करना ही उसका वध करने के समान बतलाया। इसी प्रकार अश्वत्थामा द्वारा छोड़े गए ब्रह्मास्त्र के फलस्वरूप जब राजा परीक्षित ने मृत बालक के रूप में जन्म लिया, तब कृष्ण ने यही कहा – ''यदि मैंने आजन्म कभी धर्म या सत्य का अतिक्रमण नहीं किया हो, तो यह बालक जीवित हो उठे'' और परीक्षित जी उठे। ऐसे अनेक प्रसंग कृष्ण के द्वारा धर्मग्रन्थी सुलझाने के आदर्श उदाहरण हैं।

बुद्धि का दूसरा रूप ज्ञान भी श्रीकृष्ण में सर्वांगपूर्ण था। धार्मिक, दार्शनिक, राजनीतिक एवं व्यावहारकि ज्ञान के सर्वज्ञ थे श्रीकृष्ण। इसके लिए उनका भगवद्गीता का उपदेश ही पर्याप्त है। किस उपाय से कौन सा कर्म सिद्ध हो सकता है, यही व्यावहारिक ज्ञान है। श्रीकृष्ण के

बाल्यकाल में ही दर्जनों असुरों ने उन पर घात कर उनकी हत्या करने का प्रयास किया, लेकिन उन्होंने सभी को मार दिया। आतंकियों से निपटना हो, तो कोई कृष्ण से सीखे। यह उनकी निरभिमानता और त्याग ही था कि ब्रज के लिए इतना कुछ करते हुए भी कंस की मृत्यु के बाद मथुरा का राजसिंहासन स्वीकार करने की प्रजा की प्रार्थना पर भी उन्होंने वहाँ राजा बनने से इसीलिए अस्वीकार कर दिया कि उनके कुलपुरुष यदु का राज्याधिकार वंश-परम्परा की सीमा तक उनके पिता राजा ययाति ने छीन लिया था और वे उस सत्य की मर्यादा का खण्डन नहीं करना चाहते थे। युधिष्ठिर की यज्ञ सभा में उन्होंने आगन्तुक अतिथियों के चरण-प्रक्षालन व जूठी थालियों को उठाने तक का कार्य किया। यादवों के एक छोटे से राज्य (द्वारका) का भारत में इतना प्रभाव पैदा कर देना कि सम्पूर्ण भारत के महाराजाओं को उनकी आज्ञा माननी पड़ी। यह उनकी राजनीतिक ज्ञान की श्रेष्ठता थी।

बुद्धि के तीसरे रूप ऐश्वर्य का जहाँ तक प्रश्न है, श्रीकृष्ण–चरित्र उनके अतुल्य ऐश्वर्य स्वरूप से परिपूर्ण है। श्री कृष्ण में परा और अपरा दो प्रकार की शक्तियाँ थीं। पराशक्तिवश तो उन्होंने करीब साढ़े दस वर्ष तक की उम्र तक माखन चोरी, गोपालन, बाँसुरीवादन और रासलीला के रूप में रसेश्वर बनकर आनन्द लिया और दिया। इसी बीच उन्होंने जिन असुरों का वध किया और बाद में कंस-वध आदि के बाद १२५ वर्ष की उम्र तक पापियों के वध किए, वैभव एवं अद्भुत ऐश्वर्य से युक्त द्वारिका बसाई, महाभारत युद्ध में सारथि बनकर अपनी भूमिका निभाई, उससे उनके ऐश्वर्य स्वरूप का प्रचुर प्रमाण मिलता है।

बुद्धि के चौथे एवं अन्तिम रूप वैराग्य का श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में हम अद्भुत मिश्रण पाते हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण सोलह हजार आठ रानियों के पति होते हुए भी योगेश्वर कहलाते हैं। भौमासुर के रनिवास में कैद ऋग्वेद के उपासना काण्ड की सोलह हजार ऋचाएँ मानवी रूप में राजकुमारियाँ बनकर कैद थीं। कृष्ण द्वारा भौमासुर के वध पर उन राजकुमारियों ने कातर भाव से कृष्ण से प्रणय निवेदन किया। उन्हें स्त्रीत्व की गरिमा प्रदान करने हेतु उन्होंने उनसे विवाह किया। इसी प्रकार पटरानियों के भी अपने प्रसंग हैं, जिनमें उनके द्वारा ही प्रणय निवेदन करने पर उन्होंने उनसे विवाह किया। स्वयं सोलह हजार आठ कृष्ण बनकर उनके साथ रहकर पतिधर्म निर्वाह करते हुए भी प्राय: वे योग-साधना में लीन रहते थे। जिन असुरों का उन्होंने वध किया, उनका राज्य व संपत्ति उन्होंने नहीं हड़पी, बल्कि उनकी संतान को जीता हुआ राज्य सौंप दिया। साढ़े दस वर्ष तक अपनी बाल–लीला का रसपान कराने वाले कृष्ण ने जब एक बार गोकुल छोड़ा, तो १२५ वर्ष की उम्र तक कभी लौटकर नहीं आए। कंस वध के बाद जरासंध से सत्रह बार युद्ध और फिर प्रजा के विमत का आदर करते हुए रणछोड़ बनकर द्वारिका चले गए। उनके भीतर वैराग्य की एक गहरी धारा बहती थी। वैराग्य का ही एक प्रमुख गुण समता भाव है। दुर्योधन ने कृष्ण के प्रिय पाण्डवों के साथ नाना प्रकार के अत्याचार किए। शान्ति-दूत बनकर जब कृष्ण हस्तिनापुर गए, तब दुर्योधन ने पूरी धृष्टता के साथ उन्हें बन्दी करने का दुस्साहस किया, उसके बाद भी कृष्ण ने दुर्योधन के प्रति समता भाव रखा। अर्थात् जब महाभारत युद्ध से पूर्व उनसे सहायता माँगने वह आया, तो उसे अपनी पूरी नारायणी सेना ही दे दी। अहैतुकी कृपा उनका स्वभाव था, जो कुब्जा, फलवाली बुढ़िया और सुदामा प्रसंगों से प्रमाणित होता है।

एक बार पुन: यदि ईश्वरीय अद्वैत दर्शन की ओर हम लौटें, तो पाते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापी हैं। वासुदेव का अर्थ ही है, ऐसा देव जो कण-कण में वास करता है। खम्भे में से प्रगट होनेवाले नृसिंहावतार का उदाहरण इसका श्रेष्ठ प्रमाण है। ईश्वर का मनुष्य रूप में या अन्य रूप में अवतार के समय उनकी देह का पंचभूतों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। यही कारण है कि लीला समापन के समय न तो राम की देह मिली, न कृष्ण की। ईश्वर जीवों पर दयावश उन्हें मार्ग दिखाने हेतु अवतार लेने के लिए स्वतन्त्र हैं, जबकि मनुष्य अपने जन्म के लिए परतन्त्र है। भगवान ने गीता (४/९) में कहा है कि उनके जन्म की दिव्यता को विरले ही कोई ऐसा व्यक्ति जान सकता है, जो उन्हें तत्त्व से जानने की क्षमता रखे।

बुद्धि के उपरोक्त वर्णित चारों सात्त्विक रूप भगवान श्रीकृष्ण में विद्यमान होने से उनके परब्रह्म स्वरूप का होना प्रमाणित होता है –

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णं भग इतीरणा।
वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्मश्चेत्यात्मबुद्धयः।
बुद्धयः श्रीर्यशश्चेति षड्वै भगवतो भगाः।।

वस्तुत: तर्क मनुष्य का स्वभाव है, लेकिन आस्था से ही ईश्वरानुभूति का आनन्द लिया जा सकता है। परम सत्य यही है कि कृष्ण का हर जन्मोत्सव घोर अन्धकार में पावन ज्योति जगा जाता है। युगल सरकार श्री राधेकृष्ण के कारण ही पूरा ब्रह्माण्ड स्पन्दित एवं नृत्यमय है। ○○○

इसी जीवन में ईश्वर-प्राप्ति करूँगा

स्वामी तुरीयानन्द जी भगवान श्रीरामकृष्ण देव के शिष्य थे। स्वामी विवेकानन्द के आह्वान पर वे अमेरिका में वेदान्त का प्रचार करने के लिए गए। स्वामीजी भी उस समय अमेरिका में ही थे। उन्होंने तुरीयानन्द जी महाराज से कहा, 'यहाँ के लोगों ने आदर्श हिन्दू संन्यासी का जीवन कभी देखा नहीं, मेरे मुख से सुना भर है। तुम्हें भारत से अमेरिका इसलिए बुलाया है कि आदर्श हिन्दू संन्यासी क्या होता है, यह तुम्हें देखकर लोग समझेंगे। केवल सुनी हुई बात पर तो विश्वास नहीं होता। तुम लोग श्रीरामकृष्ण देव की सन्तान हो। तुम्हें देखकर लोगों के मन में धर्मभाव जाग उठेगा। Live the life बस, आदर्श जीवन बिताओ।'

स्वामीजी के निर्देशानुसार स्वामी तुरीयानन्द जी ने अमेरिका में वेदान्त का प्रचार करना आरम्भ किया। प्रचार की अपेक्षा वे जीवन जीने के ऊपर अधिक महत्त्व देते थे। अनेक लोग उनके दिव्य संस्पर्श में आए और वे भी सबको आदर्श जीवन जीने के लिए उत्साहित करते थे। वे प्रत्येक व्यक्ति से कहते , "लगे रहो, लगे रहो, मुट्ठी बाँधकर कहो, 'मैं अवश्य सिद्धि प्राप्त करूँगा।' अभी नहीं, तो कभी नहीं। 'मैं इसी जीवन में ईश्वरप्राप्ति करूँगा, इसी को अपना मन्त्र बना लो। दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसे कल के लिए कदापि मत टालो। जिसे तुम उचित समझते हो, उसे तुरन्त कर डालो। कोई भी मौका निकलने मत दो। अनेक शुभ आकांक्षाओ से मन के आच्छन्न रहने पर असफलता ही हाथ लगेगी। इससे नहीं चलेगा। स्मरण रखो, यह जीवन बलवान के लिए ही है, पुरुषार्थी के लिए ही है, दुर्बल के सारे मनोरथ विफल हो जाते हैं। जानते हो, ईसा मसीह ने क्या कहा है? – 'जो अन्त तक टिका रहेगा, वही स्वर्गराज्य का अधिकारी होगा।' कभी दुर्बलता के सामने सिर मत झुकाना। कभी अपने को सुरक्षित मत समझना, क्योंकि जब तक शरीर है, तब तक प्रलोभन आते ही रहते हैं।" ○○○

प्रारब्ध कर्म और भगवान का नाम

श्रीमाँ सारदा देवी

कर्म ही हमारे सुख-दुख का कारण है। यहाँ तक कि ठाकुर (श्रीरामकृष्ण देव) को भी कर्मफल का भोग करना पड़ा था। एक बार उनके अग्रज सन्निपात की अवस्था में पानी पी रहे थे। ठाकुर ने देखा तो झपटकर ग्लास छीन लिया, वे थोड़ा-सा ही पी पाए थे। अग्रज रुष्ट हो गए और बोले, 'तूने मुझे पानी नहीं पीने दिया, तू भी ऐसा ही भुगतेगा। तुझे भी गले में ऐसी ही पीड़ा होगी।' ठाकुर बोले, 'भैया, मैंने तुम्हें सताने के लिए तो ऐसा नहीं किया। तुम बीमार हो, पानी पीने से तुम्हारा रोग और बढ़ जाता, इसलिए मैंने ग्लास छीन लिया। किन्तु तुमने मुझे श्राप दे दिया?' अग्रज रोते हुए बोले, 'भाई, मैं नहीं जानता कि क्यों मेरे मुख से ऐसे शब्द निकल गए। उनका फल तो होगा ही।' अपनी बीमारी के समय ठाकुर ने मुझसे कहा था, 'मुझे उस श्राप के कारण गले में कैंसर की यह बीमारी हुई है। तुम लोगों को अब भुगतना नहीं पड़ेगा, मैंने तुम सबके बदले भोग लिया।' उत्तर में मैंने कहा, 'यदि ऐसी बात आपके साथ घटती है, तब फिर साधारण मनुष्य कैसे जीवित रहेगा।' ठाकुर बोले, 'मेरे अग्रज धर्मात्मा थे। उनके शब्द सत्य होंगे ही। क्या ऐरे-गैरे किसी की भी बात यूँ सत्य हो सकती है?

कर्म का फल अनिवार्य है, पर भगवान के नाम के प्रभाव से उसकी तीव्रता कम की जा सकती है। यदि तुम्हारे भाग्य में पैर का कटना बदा हो, तो कम से कम पैर में काँटा चुभकर रह जाएगा। जप-तप के द्वारा कर्मफल को बहुत कुछ काटा जा सकता है। राजा सुरथ के साथ यही हुआ। उसने एक लाख बकरे की बलि देकर देवी की पूजा की थी। बाद में इन एक लाख बकरों के तलवार के एक वार से ही राजा का काम तमाम कर दिया; उसे एक लाख बार जन्म लेने और मरने की नौबत नहीं आई। यह देवी पूजा का प्रभाव था। भगवान के पावन नाम का गान कर्म के प्रभाव की तीव्रता को कम कर देता है। ○○○

स्वधर्म पालन ही ईश्वर की सच्ची पूजा है

विजय कुमार श्रीवास्तव, सीतापुर (उ.प्र.)

कोई भी व्यक्ति बिना कोई कर्म किए अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकता, किन्तु उसके कार्यों में सजगता हो, शालीनता हो, निखारता हो और वे कार्य नि:स्वार्थ सकारात्मक तथा दायित्व बोध से किए गए हों। हमारी अन्तश्चेतना और कार्यों के प्रति हमारा दायित्व बोध हमें कार्यों में निरन्तर कुशलता की ओर प्रेरित करके अच्छे परिणामों की ओर अग्रसर करता है। ऐसे प्रत्येक कार्य के पीछे हमारा अपना एक धर्म भी कार्य करता है, जो हमें अपने कार्यों को ईमानदारी, शालीनता एवं सजगता से कार्य करते रहने की सहज प्रेरणा देता है।

हमारे दैनिक कार्य और व्यवहार प्राय: स्थूल भौतिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हैं। यदि इन्हें आध्यात्मिक चेतना के साथ, 'कर्म ही पूजा है' के भाव से क्रियान्वित किया जाय, तब भी कार्य हो सकते हैं। ऐसे किए गए कार्यों में हमें अधिक उल्लास और उत्साह मिलेगा। इस प्रकार किए गए कर्मों से नैतिकतापूर्ण कर्तव्यनिष्ठा के साथ ही हमारा स्वधर्म पालन भी हो जाएगा और हम कर्तव्यहीनता के अदृश्य पाप से भी बच जाएँगे।

हमें अपने प्रत्येक कार्य को ईश्वर का ही कार्य समझकर तन्यमता से करना चाहिये। कार्यों में ही नहीं, अपितु सामान्य व्यवहारों में भी यदि हमारा आध्यात्मिक चिन्तन जुड़ा रहे, तो हमारे मानव मूल्यों को तो बल मिलेगा ही, एक बहुत बड़ा स्वधर्म-पालन भी हो जाएगा।

हम प्राय: अपने इष्ट अथवा ईश्वर की पूजा करते हैं। उस समय यदि कोई किसी कार्य के लिये केवल कह भर दे, तो हम उबल पड़ते हैं, खिन्न हो जाते हैं। क्या ईश्वर हमें खिन्न रहना सिखाते हैं, कर्तव्यहीन बनने की प्रेरणा देते हैं? कदापि नहीं। ईश्वर सम्पूर्ण संसार के कार्य-व्यवहार, निर्माण और संचालन के प्रणेता हैं। अपने कार्यों में योगदान करने के लिये ही उस सर्वशक्तिमान ने हमारे अन्दर चेतना, शक्ति और कौशल दिया है। क्या वे अपने कार्य-सम्पादन या पूजा के लिये हमें कर्तव्य के स्वधर्म से वंचित कर देंगे? मैं ऐसा कदापि नहीं मानता। जब सारे कार्य उसी के हैं, तो उन्हें करना ही विवेकपूर्णता है। उन्हें करो, करते रहो, किन्तु साथ में प्रभु का चिन्तन भी करते रहो। इसमें किसी प्रकार का आलस्य व प्रमाद हमें अपने स्वधर्म से वंचित कर सकता है। यह कभी मत भूलो कि तुम्हारे माध्यम से किया जाने वाला हर कार्य वस्तुत: ईश्वर का ही कार्य है, ईश्वर की पूजा है। आप इसे अपनी चेतना में ढालें, अपने धर्म से जोड़ें।

हम चाहे शिल्पकार, चर्मकार, चिकित्सक, इंजीनियर, अध्यापक, छात्र, दुग्ध विक्रेता, संगीतकार, खोंचेवाले, दूकानदार अथवा गृहस्थ कुछ भी हों, अपने नैतिक धर्मों को समझें और उसी 'स्वधर्म बोध' के साथ अपने सारे कार्य करें, तो यह परोक्षरूप से सही, 'ईश्वर की पूजा' हो जाएगी। गीता के अठारहवें अध्याय में श्लोक संख्या ४१ से ४५ तक मनुष्य के स्वाभाविक कर्मों का वर्णन किया गया है। इसी के अनन्तर पैंतालीसवें श्लोक में स्वधर्म पालन से ईश पूजा के फल का संकेत दिया गया है –

यतः प्रवृतिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।।

अर्थात् जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को पा लेता है।

स्वधर्म-पालन के इसी उद्देश्य को गीता में और भी स्पष्ट कर दिया गया है –

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परमर्धात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।३/३५

अर्थात् दूसरे के श्रेष्ठ धर्म से अपना गुणरहित धर्म भी उत्तम है। अपने धर्म में मृत्यु उत्तम है, किन्तु परधर्म भयंकर होता है। रामचरितमानस में भी 'निज निज कर्म निरत श्रुति रीती' कहकर स्वधर्म का महत्व दर्शाया गया है। यदि हम स्वधर्म को वर्तमान युग के परिप्रेक्ष्य में देखें, तो स्वामी विवेकानन्द का सन्दर्भ ग्रहण करना समीचीन होगा। वे अपने 'कर्मयोग' की व्याख्या में कहते हैं – ''अपने-अपने स्थान पर सभी महान हैं।'' अत: हम कुछ भी हों, हमारा जो भी दायित्व हो, हमें उसकी मर्यादाओं के अनुकूल अपने स्वधर्म का नियोजन करते हुए यथाशक्ति अपने कर्तव्य का निर्वाह करना चाहिए। माता-पिता और बड़ों का सम्मान, मानव जाति से प्रेम, स्वाध्याय, शास्त्रानुकूल नैतिक आचरण, अपने सम्मानीय, विद्वानों, वृद्धों व असहायों की सेवा तथा समाज के विकास की भावना रखते हुए हमें अपने स्वाभाविक कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। हमें अपने प्रत्येक कार्य को ईश्वर की सच्ची सेवा समझकर सदैव स्वधर्म पालन में लीन रहना चाहिये। यही ईश्वर की सच्ची पूजा है। ○○○

ईर्ष्यावृत्ति से कैसे बचें?

स्वामी गीतेशानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम, शिमला (हि. प्र.)

ईर्ष्याजनित द्वेष रूपी मल का मार्जन कर सकें तो रागजनित आसक्ति दूर हो जाएगी। न केवल साधकों को बल्कि सामान्य लोगों का भी अनुभव है कि ईर्ष्याभाव मन में आने से वह न केवल अनावश्यक संताप पैदाकर मन को अशान्त करता है, बल्कि हमारे दूसरों के साथ सम्बन्धों में खटास पैदा कर देता है। एक नकारात्मक व्यक्तित्व के रूप में हमारी पहचान बन जाती है।

विख्यात कथावाचक राजेश रामायणी की एक आख्यायिका यहाँ पर देना अप्रांसगिक न होगा – कोई एक सज्जन बहुत असूयाग्रस्त थे। वे अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कामों में सर्वदा दोष ही देखते थे। एक बार कर्मचारियों ने सोचा कि इस बार सब कुछ इनसे पूछकर ही करेंगे। उन लोगों ने वैसा ही किया। सब कुछ उनसे पूछकर ही किया। कार्य सम्पन्न होने जब उनसे पूछा कि कहीं कोई कमी तो नहीं रह गई, तो उन्होंने कहा, वैसे तो सब ठीक है, लेकिन अति सर्वत्र वर्जयेत् – इतना अधिक अच्छा होना भी ठीक नहीं है। ईर्ष्याग्रस्त व्यक्ति कौवे की तरह अच्छी चीजों को छोड़कर बुरा ही देखता है।

ईर्ष्या-नाश के कुछ व्यावहारिक उपाय – ईर्ष्या निवारण के लिए दो प्रकार की पद्धतियों की सहायता ली जा सकती है **(१) अन्तरंग साधन पद्धति –** एक ही परमात्मा सृष्टि के कणकण में अनुस्यूत है। सभी देहों में साक्षी रूप से वही आत्मतत्त्व विद्यमान है, अत: दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष करना ईश्वर से ही द्वेष करना हुआ। शास्त्रों में इसे आत्मा द्वारा आत्मा का हनन कहा गया है। विचारशील व्यक्ति बार-बार ऐसा विचार कर लाभान्वित हो सकते हैं। भावप्रवण व्यक्ति जो साकार उपासना में विश्वास करते हैं उनके लिए तो ईश्वर नाम ही सभी भवरोगों की दवा है । श्रीरामकृष्ण कहते हैं, जैसे ताली बजाकर भगवन्नाम करने से कलि के पाप पक्षी उड़ जाते हैं। इष्ट-मन्त्र के जप करने से धीरे-धीरे ईश्वर में अनुराग बढ़ने से काम-क्रोध स्वत: ही सूखे पत्ते की तरह गिर जाते हैं।

२. बहिरंग साधन – मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाणां सुख-दुख-पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्त-प्रसादनम्।। (यो. सू. १.३)

अर्थ – सुख-दुख पुण्य-पाप में क्रमश: मैत्रीभाव, दया, प्रसन्नता और उदासीनता का भाव लाने से अन्त:करण में प्रसन्नता होती है।

उपरोक्त सूत्र ईर्ष्या से छुटकारा पाने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण और व्यावहारिक है। जो सुखी हैं, जो सद्गुणी हैं, उनसे मैत्रीभाव तथा जो दुखी हैं, उनसे दया का भाव लाने से ईर्ष्या रूपी ज्वाला को ईंधन नहीं मिलता है, इसलिए यह प्रशमित हो जाती है। ईर्ष्या का स्वभाव ही है दूसरों के दुख में हर्ष प्रकट करना। ईर्ष्या-दानवी का दमन करने के लिए ठीक इसके विपरीत आचरण करना होगा। जैसा कि महर्षि पतञ्जलि उपरोक्त सूत्र में बताते हैं। यदि हम दूसरों का सुख-दु:ख बाँट सकें, तो न केवल हमारा आत्मिक विकास होगा, बल्कि हम एक स्वस्थ समाज के निर्माण में भागीदार बन सकते हैं।

श्रीमाँ सारदा देवी का उपदेश – श्रीमाँ सारदा देवी का एक उपदेश जो उन्होंने अन्तिम दिनों में किसी भक्त महिला को दिया था, वह ईर्ष्या के नियमन के लिए अति व्यावहारिक और आशु फलदायक है। माँ कहती हैं, 'बेटी, यदि शान्ति चाहती हो, तो किसी के दोष मत देखना, इस संसार में कोई पराया नहीं है, सभी तुम्हारे अपने हैं, जगत को अपना बना लेना सीखो।'' श्रीमाँ का यह शान्ति-मन्त्र ईर्ष्या रोग की अमोघ औषधि है। हम यदि दृष्टि को इतना उदार बना लें कि अपना-पराया की भेद-विभेद की रेखा अत्यन्त क्षीण होकर विलीन हो जाय, तो परम शान्ति और सहजानन्द का फव्वारा हमारे हृदय में खुल जाएगा। हमारे सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को अपना समझकर यदि हम मधुर वचन, सेवा या उपहार के द्वारा उसका स्वागत कर सकें, तो न केवल हम आत्मोन्नति का परम पुरुषार्थ कर सकेंगे, बल्कि स्वस्थ समाज के निर्माण में सहायक भी बन सकेंगे। यह कड़वी औषधि लेने के समान कष्टकर लग सकता है, परन्तु 'परिणामे अमृतोपमम्', इसका परिणाम अवश्य ही मधुर है। इस प्रकार काम-क्रोधादि शत्रु, जो दीमक की तरह दिन-रात मन का क्षय करते रहते हैं, उन पर विजय पाकर हम 'प्रसादमधिगच्छति', परम शान्ति के अधिकारी बन सकते हैं। ○○○
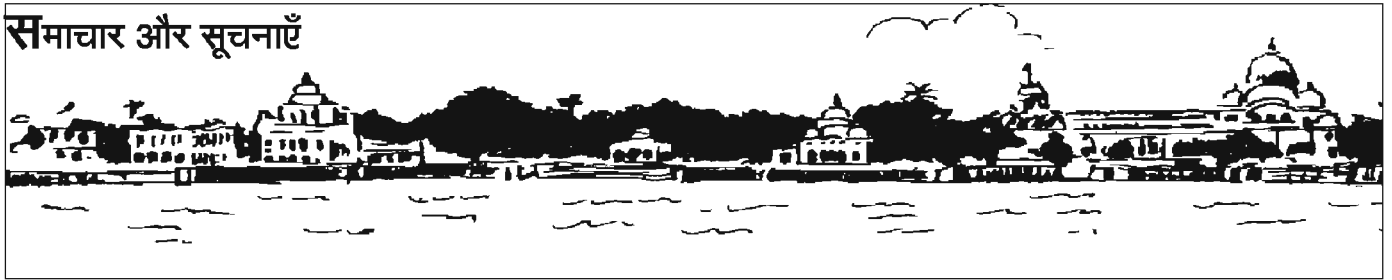
नेपाल और भारत के कुछ भागों में भूकम्प-राहत कार्य जारी – दार्जीलिंग केन्द्र ने ५०,००० किलो चावल, ५००० किलो सोयाबीन, १५००० किलो दाल, ५००० पैकेट हल्दी पाउडर, ५००० किलो नमक आदि वितरित किया।

काठमाण्डु केन्द्र ने ७९०० किलो चावल, ७८० किलो दाल, ११०८ किलो आलू, १० हरी मिर्च, १० किलो हल्दी, ४९५ किलो नमक, ५९५ लीटर खाद्य तेल, ४००० किलो चिउड़ा, ४००० किलो दूध, ४९७ किलो चीनी, आदि वितरित किया। १७०० बर्तन सेट, जिसमें १-१ थाली, ग्लास, कप, खाने बनाने का बर्तन, २ करछुल थे, १००० बाल्टी, १००० मग, ५००० कम्बल, १००० चटाई, २००० मच्छरदानी, ३२०० तारपोलीन, ३००० वस्त्र, ५०० साबुन, ८००-८००० टूथपेस्ट और टूथब्रश, ८०० टार्च, १४ सोलर लैम्प, आदि ६६ गाँवों के ३८६५ परिवारों को ३० अप्रैल से २९ मई तक प्रदान किया गया।

इसके अतिरिक्त लखनऊ, पटना, मुजफ्फरपुर, वृन्दावन, बांग्लादेश के ढाका में भी राहत कार्य किए गए।

वृन्दावन में विधवा कल्याण योजना शुभारम्भ

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वृन्दावन में विधवा महिलाओं को नि:शुल्क चिकित्सा सेवा प्रदान करने हेतु एक योजना आरम्भ की गई है। इस योजना में विधवा माताओं को नि:शुल्क चिकित्सा के साथ-साथ नि:शुल्क जाँच की भी व्यवस्था की गई है। इसमें अल्ट्रासाउन्ड, सी.टी. स्कैन, एक्सरे, इ.सी.जी., शल्य चिकित्सा आदि की सुविधाएँ उन्हें प्रदान की जाएँगी। यदि वे अकेली हैं, तो चिकित्सालय में भर्ती होने पर उन्हें नि:शुल्क सेवक भी प्रदान किया जाएगा।

इसके अतिरिक्त प्रति माह आश्रम के सौजन्य से १५२५ गरीब विधवाओं को ५ किलो चावल, ५ किलो आटा, १ किलो दाल, १ किलो तेल, आधा किलो चीनी, १ किलो नमक, २०० ग्राम दूध पाउडर, १०० ग्राम चायपती, स्नान करने का साबुन १, कपड़े धोने का साबुन १ और २०० ग्राम सर्फ पाउडर प्रदान किए जाते हैं।

इसके सिवाय ४२ विधवा माताओं को नि:शुल्क गैस सिलिंडर एवं चूल्हे प्रदान किए गए।

१५ मई, २०१५ को **रामकृष्ण मठ, चेन्नई** के अध्यक्ष और वरिष्ठ न्यासी स्वामी गौतमानन्द जी महाराज ने विवेकानन्द इल्लम में भारतीय सांस्कृतिक इतिहास पर होलोग्राफिक फिल्म का उद्घाटन किया।

प्रधानमन्त्री जी ने आश्रम परिदर्शन किया

७ जून, २०१५ भारत के प्रधानमन्त्री माननीय **श्री नरेन्द्र मोदी जी** ने बांग्लादेश स्थित रामकृष्ण मिशन, ढाका का परिदर्शन किया और वहाँ सभी आश्रमवासियों से भेंट की।

४ मई, २०१५ को विवेकानन्द आश्रम, **श्यामलाताल** की शताब्दी समारोह के प्रथम चरण का शुभारम्भ किया गया।

रामकृष्ण मिशन आश्रम, मोराबादी, राँची ने १८ अप्रैल, २०१५ को युवाओं में स्वामी विवेकानन्द जी के विचारों को सम्प्रेषित करने के लिए एक युवा सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें 'बनो और बनाओ' पर चर्चा की गई। कार्यक्रम के प्रथम सत्र में मुख्य वक्ता थे आश्रम के सचिव स्वामी भवेशानन्द जी, पूर्व आई. एस. एस. के प्रो. डॉ. अनिरुद्ध प्रसाद तथा लायन्स क्लब की अध्यक्ष श्रीमती शुभ्रा मजुमदार। सभा के अन्य सत्रों में स्वामी इष्टकामानन्द, स्वामी शक्तिसारानन्द ने युवाओं को सम्बोधित किया। कुल २१० युवक-युवतियों ने भाग लिया और स्वामीजी के विचारों से चरित्र-निर्माण एवं देश-सेवा की प्रेरणा प्राप्त की।

अम्बिकापुर में स्वामी विवेकानन्द कथा का आयोजन

३१ मई, २०१५ को श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द सेवा आश्रम, देवीगंज रोड, अम्बिकापुर में स्वामी विवेकानन्द कथा का आयोजन किया गया। यह दिवस रामकृष्ण संघ में ऐतिहासिक और पावन दिवस के रूप में स्मरण किया जाता है। रानी रासमणि देवी ने इसी दिन दक्षिणेश्वर काली मन्दिर की प्राण-प्रतिष्ठा की थी, जहाँ श्रीरामकृष्ण देव ने १८५५ से १८८६ तक कुल ३० वर्षों तक निवास किया था। ३१ मई, को ही स्वामी विवेकानन्द जी ने ऐतिहासिक शिकागो-धर्म-सम्मेलन में भाग लेने हेतु मुम्बई से प्रस्थान किया था। इन्हीं पावन स्मृतियों के उपलक्ष्य में मंगल आरती के बाद स्वामी अपूर्वानन्द द्वारा लिखित विवेकानन्द जी की संक्षिप्त जीवनी का पूरा पाठ किया गया। कथा के पूर्व स्वामी तन्मयानन्द जी ने स्वामीजी के कृतित्व-व्यक्तित्व पर संक्षिप्त चर्चा की। सभी भक्तों ने ३ घण्टे तक निष्ठा के साथ कथा-श्रवण की। OOO